काव्य में अप्रस्तुतयोजना

लेखक
भारतभूगोल: आदि अनेक संस्कृत और
मेघदूतविमर्श, काव्यालोक, काव्यदर्पण
आदि हिन्दी ग्रन्थों के रचयिता

पण्डित रामदहिन मिश्र

प्रकाशक

ग्रन्थमाला-कार्यालय, पटना

प्रथम संस्करण] संवत् २००५ [मूल्य ५)

विषय-सूची

वक्तव्य

काव्यालोक और काव्यदर्पण के लेखनकाल में जैसे-जैसे उदाहरणों की समीक्षा करने लगा वैसे-वैसे अपनी नवीनता के कारण कई विषयों की ओर मेरा ध्यान भी जाने लगा। उनमें अप्रस्तुतयोजना, लक्षणा और अलंकार मुख्य थे। इन तीनों विषयों पर भी पुस्तकें प्रस्तुत करने का संकल्प किया। उसी का परिणाम यह 'काव्य में अप्रस्तुतयोजना' पुस्तक है।

मैंने काव्यदर्पण की भूमिका के अन्त में जो यह लिखा है कि "आज का युग अध्यात्मवाद का नहीं, भौतिकवाद का है; सामन्तशाही का नहीं, जनता का है—राजा का नहीं, प्रजा का है; रूढ़िवाद का नहीं, सुधारवाद का है और प्राचीनता का नहीं, नवीनता का है।" उसके अनुरूप यह पुस्तक है कि नहीं, इसपर प्रगतिवादी कह सकते हैं कि यह तो पुरानी लकीर पीटना है, पानी पीटना-सा निरर्थक है।

मेरा कहना यह है कि जब प्रगतिवादी प्राचीन परिपाटी के भी पोषक हैं, स्वेच्छा से नहीं तो विवशता से ही सही, आलंकारिकों के मार्ग पर चलते हैं तथा प्रत्यक्ष रूप से कार्यतः और व्यवहारतः उससे विमुख नहीं हैं, ऊपर से भले ही उसके निन्दक हों, तब उनकी कृतियों की समीक्षा नितान्त आवश्यक है। ऐसा न होने से आलंकारिक परिपाटी की मर्यादा नष्ट होने का भय है। साथ ही काव्य-सौन्दर्य के भी कलुषित हो जाने की संभावना है। अतः यह मेरा कार्य नवीन ही नहीं, सामयिक भी है।

हमने अपनी आलोचना के लिये नवीन कवियों की कविताओं को ही चुना है; उन्हीं कविताओं की अप्रस्तुतयोजनाओं की समीक्षा की है। शास्त्र और सौन्दर्य की दृष्टि से उन्हीं के गुण-दोषों के परखने की चेष्टा की है। नयी प्रतिभाओं ने उपमानों के नये-नये रूप दिये हैं। भाषा की लाक्षणिकता ने उनमें नये-नये इन्द्रधनुप पैदा कर दिये हैं। इस प्रकार पुरानी लीक पीटने जैसी यह पारंपरिक कृति नहीं है। अतः काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से उनकी कुछ विवेचना आवश्यक है। मैंने अप्रस्तुतयोजना की ही केवल समीक्षा की है। क्योंकि पुस्तक

का यही उद्देश्य है। किन्तु शपथ खाकर मैं नहीं कह सकता कि अन्य विषयों पर मेरी कलम चलक नहीं गयी है।

प्रगतिवादी कहेंगे कि अब इन सब बातों का कौन विचार करता है। ये बातें बहुत पीछे छूट गयीं। हम कहेंगे कि जब प्रगतिवादी एक-एक शब्द पर विचार करते हैं तब किस मुँह से ऐसी बात कहेंगे कि अप्रस्तुतयोजना पर विचार नहीं होना चाहिये। वे भी तो इनसे अपनी कविताओं को चमत्कारक और प्रभावोत्पादक बनाते हैं।

एक प्रगतिवादी अपनी इस—

गूँजता था सुनसान—
ऊजड़ खंडेरों में
गिरते थे पत्ते
वनपंछी नहीं बोलते थे
नाले की धार किनारे से लगी जाती थी।

कविता के 'सूनसान' शब्द पर लिखता है—"कहीं-कहीं नये शब्द वातावरण का ध्वनिभाव लेकर बनाये हैं—जैसे सूनसान, खंडेरों आदि। उदाहरणार्थ 'सूनसान' शब्द लीजिये। शून्यता, सूनापन, सुनसान उस ध्वनि-भाव के साथ निर्बल प्रतीत हुए। शून्य में एक खोखलापन है। सूनापन में दो स्वरध्वनियों की तेजी के बाद ही अंत की दो व्यंजन-ध्वनियाँ गति को ही समाप्त कर देती हैं, रोक देती हैं। सुनसान सबसे निर्बल है। क्योंकि इसमें एक स्वरध्वनि है और आरम्भ की दो व्यंजन-ध्वनियों से शब्द निर्गति है। सूनसान में 'ऊ' की ध्वनि लंबाई और दूरी व्यक्त करती है और 'आ' की ध्वनि विस्तार। बीच में 'न' की ध्वनि सनसनाहट और गहराई व्यक्त करती है। इस प्रकार 'सूनसान' शब्द का ध्वनिभाव 'ओ ऊ' हो जाता है जो गहरे सूनसान का यथार्थ रूप है।"—तारसप्तक

ऐसा शब्द-विचार उतना महत्त्व नहीं रखता जितना कि अप्रस्तुत-योजना का विचार। ऐसे शब्द-विचारक कवियों को अपनी अप्रस्तुत-योजनाओं पर विचार करना ही होगा कि वह उचित है वा अनुचित, भाववर्द्धक है या भावापकर्षक। ऐसा न करने से उसका मनमाना शब्दप्रयोग कविता को यथेष्ट भावोद्बोधक तथा सरस नहीं बना सकता। वह 'गुड़ खाय और गुलगुले से परहेज' कैसे कर सकता है? अतः आधुनिक कविताओं के उपमानों की समीक्षा करना न तो पुरानी लकीर

पीटना है और न पानी पीटना-सा व्यर्थ ही है। बल्कि ऐसी आलोचना-पुस्तकों द्वारा नवीन कवियों को अपनी कविताओं की अप्रस्तुत-योजनाओं पर विचार करने का अवसर देना है, जिससे वे इस आवश्यक दृष्टिकोण की उपेक्षा न करें और अपनी कविताओं को रसहीन ना होने दें।

इसमें अप्रस्तुतयोजना की समीक्षा के पूर्व भाषा पर भी थोड़ा विचार कर लिया गया है। यह आवश्यक था; क्योंकि आधुनिक काल में कविता के लिये भाषा का महत्त्व अधिक हो गया है। लक्षणा ने भाषा में वक्रता ला दी है। भाव की विभूति के लिये भाषा की भी विभूति आवश्यक है। भाषा की गहराई में पैठे बिना अभिव्यक्ति की कुशलता का बोध सहज नहीं है।

अप्रस्तुतयोजना कहिये या उपमान। दोनों एक हैं। फिर मैंने तीसरे रूप में अप्रस्तुत के नाम से और चौथे में उपमान के नाम से जो विचार किया है वह मेरे मन का विभाग है। उसपर पाठकों को माथा-पच्ची करना ठीक नहीं। यह मनोवैज्ञानिकों का काम है। मैंने दोनों प्रसंगों में दोनों के नाम लिये हैं। इसी से उन्हें सन्तोष कर लेना चाहिये।

उपमा के रूप में भी वही अप्रस्तुतयोजना वा उपमान है और उसी का विचार। उपमा से उपमान कैसे अलग हो सकता है? पेड़े से खोआ निकाल दिया जाय तो क्या उसका अस्तित्व रह सकता है? यही बात उपमा में उपमान की है।

उपमा के जितने प्रचलित भेद हैं उनके उदाहरण देने की चेष्टा मैंने नहीं की है और न उनका दिग्दर्शन कराया है। वह इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है। हाँ, नये रूप-रंग के कारण उपमेयोपमा, अनन्वय और मालोपमा की सोदाहरण चर्चा की है।

उपमा-प्रकरण में आदर्श नाम से एक छठा रूप और होना चाहता था जहाँ से 'वैदिक उपमा' नामक रंग आरंभ होता है; क्योंकि वह रूप उपमा-विचार नामक रूप के अनुरूप नहीं है। एकवचन, बहुवचन, उपमान, उपमा आदि में इसी प्रकार कुछ व्यतिक्रम है। जल्दी में इन बातों की ओर ध्यान नहीं गया। इनसे कोई बात बनती-बिगड़ती नहीं।

मेरी समीक्षा के कारण नहीं तो, नवीन कवियों की कविताओं के सुन्दर उदाहरणों के कारण पुस्तक पाठकों को अवश्य रुचिकर प्रतीत होगी। जिन कवियों को अपनी किसी कविता की आलोचना कटु प्रतीत हो वे सहृदयता से मेरे सद्भाव पर ध्यान दें और समझें कि मेरा उद्देश्य किसी की निन्दा करना नहीं है।

इस पुस्तक की अधिकांश सामग्री वही है जो 'काव्यालोक और काव्यदर्पण की है। इसके अतिरिक्त अनेक पत्र-पत्रिकाओं से, जहाँ कहीं देखा-सुना, सोत्सुक नोट कर लेने को तत्पर रहा। घर-बाहर संगीत सुनने को सोत्कर्ण रहा और अपने काम के योग्य गीतों को लिख लेने से भी कभी विमुख नहीं हुआ। मैं इन सबों का ऋणी हूँ और इनका आभार स्वीकार करता हूँ। ग्रन्थमाला के व्यवस्थापक श्री अयोध्याप्रसाद झा ने अस्त व्यस्त-की अवस्था में भी अंतिम प्रूफ देखकर मुझे बड़ी सहायता दी है। हमारे प्रीतिभाजन साहित्यिक श्री शुकदेव दुबे और श्री जयनारायण पाण्डेय ने खूब सावधानी से छपे फर्मे पढ़कर अनुक्रमणिका और संशोधनपत्र के योग्य चिह्न लगा दिये हैं। ये सभी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

कविता के साथ कवियों का नामोल्लेख कर दिया गया है। उनकी अनुक्रमणिका इस बार पुस्तक में न दी जा सकी। शुद्धि-पत्र कोई पढ़ता नहीं। इससे अनावश्यक शुद्धि-पत्र नहीं लगाया गया।

शारीरिक शक्ति का ह्रास, मस्तिष्क की दुर्बलता तथा नेत्रों की मन्दता के कारण जो एक बार लिखा उसे दुहराया भी नहीं। जल्दी के कारण पुराने टाइपों में पुस्तक छपी। प्रूफ भी ठीक से न देख सका। इससे पुस्तक में अनेक त्रुटियों के हो जाने की सम्भावना है। आशा है पाठक उन्हें सुधार लेने की कृपा करेंगे।

पुस्तक के गुण-दोषों के बारे में मैं तो केवल यही कहूँगा कि सुधी जन गुण को अपनावें और दोष को पी जायँ। कहा है—

गुणदोषौ बुधो गृह्णन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः।
शिरसा धार्यते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति।

रामदहिन मिश्र

भूमिका

अप्रस्तुतयोजना के मूल में वासना काम करती है, यह कहना कुछ आश्चर्यजनक-सा प्रतीत होता है, पर विचार पूर्वक देखा जाय तो इसमें कोई अयथार्थता नहीं है।

सब कवियों की अप्रस्तुतयोजनायें एक समान नहीं होतीं। कोई अनेक उपमान ला सकता है, कोई एक-दो; कोई सुन्दर उपमान ला सकता है, कोई असुन्दर; किसी की कवितायें अप्रस्तुतयोजनामय होती हैं और किसी की कवितायें उनसे शून्य। उपमा में सभी कालिदास नहीं हो सकते। इसका कारण यही वासना है—पूर्वजन्म का संस्कार है। दण्डी ने कहा है कि अद्भुत प्रतिमान पूर्ववासनागुणानुबन्धी होता है। अर्थात् कवि की प्रतिभा में पूर्व वासना का गुण विद्यमान रहता है। इसी से कवि-विशेष की दृष्टि, उनकी समीक्षा, उनकी अनुभूति गम्भीर तथा विशिष्ट होती है।

हम इस जीवन में ही नहीं, जन्म-जन्मान्तर में जो कुछ देखते-सुनते हैं उसका संस्कार हमारे मन में पैठ जाता है। हमारी अपेक्षा कविवर्ग जो व्यापक दृष्टिकोण रखता है उसका कारण वासना की प्रबलता है। इसी से वे सुन्दर को, रमणीय को, मधुर को सुन्दरतर, रमणीयतर और मधुरतर के रूप में देखता है। हमारे अणुपरमाणु में वासना रूप से पूर्व स्मृति वर्तमान है। कालिदास कहते हैं—

> रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ॥
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
> भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि ॥

मनोहर वस्तु देखकर और मधुर शब्द सुनकर सुखी जीव भी जो उत्कंठित हो जाता है उसका कारण यही है कि वह निश्चय ही अपने मन में पूर्वजन्म के भावस्थिर किसी सौहार्द का अज्ञात रूप से स्मरण करता है।

इस श्लोक के वर्णन में द्विजेन्द्र-लाल कहते हैं—"यह संगीत-तत्त्वज्ञान कवि के कवित्व से भी ऊपर चला गया है। चिन्ता और अनुभूति, विरह और मिलन, स्थिरता और उच्छ्वास यहाँ पर आकर सम्मिलित हो गये हैं। मानो लहराते हुए नील सागर के ऊपर प्रातःकाल की किरणें आ पड़ी हैं;

घने काले मेघ के ऊपर पूर्णचन्द्र हँस रहा है ; ललित चाँदनी के ऊपर बनभी की परछाँई आकर पड़ी है।" वे इसमें एक साथ "विज्ञान और कवित्व, पूर्व जन्म और इह जन्म, अप्सरा का नृत्य और मर्त्य की वेदना, प्रभात की आशा और सन्ध्या का विषाद, माता का रोदन और शिशु का हास्य" पाते हैं।

दुष्यन्त के अगाध सुख में अगाध विषाद के अनुभव का यह चित्र है। इस अनुभव का क्या कारण है, यह समझ में नहीं आता। मन में जैसे कुछ आता है और अनजान में ही, पर स्मरण नहीं आता। यही अबोधपूर्वक स्मरण वासना की लुभानेवाली लीला है।

इस पद्य में चेतस्—मन, स्मरण, जन्मान्तर आदि ऐसे शब्द हैं जिन-पर प्रकाश डालना आवश्यक है और द्विजेन्द्र लाल के विज्ञान और कवित्व को भी देखना है।

गौतम और कणाद ने मन की और आत्मा की गणना द्रव्य में कर डाली है। कपिल और पतंजलि ने मन को इन्द्रिय मान लिया है। पर गीता ने 'त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन' कहकर मन के महत्त्व को अक्षुण्ण रक्खा है। आधुनिक विज्ञान भी इस श्लोक के भाव का समर्थन करता है और उसकी वैज्ञानिकता सिद्ध करता है। इसको कुछ विस्तार से समझना होगा।

मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने समग्र मन को अखंड, अरूप और सूक्ष्म मानते हुए भी कार्य-प्रणाली के अनुसार उसके तीन भेद किये हैं। सज्ञान वा सचेतन मन (Conscious mind) अधिचेतन मन (Pre-Conscious or For-Conscious mind) और अचेतन वा निर्ज्ञान मन (Unconscious mind)।

सचेतन मन का कार्य जागतिक है। यह सीमाबद्ध और परम्परागत है। अधिचेतन मन का कार्य है सचेतन और अचेतन मनोजगत् के बीच संयोग और सामंजस्य स्थापित करना। फ्रायड का कहना है कि सभ्यता की वृद्धि के साथ मनुष्य का स्वाधीन और स्वेच्छाचारी मन लुप्त हो गया है, बल्कि कहना चाहिये कि वह सुला दिया गया है। सभ्य मनुष्यों में वह अब भी वर्तमान है। यही अचेतन मन है। इसे विस्मृति का अतलतल भी कह सकते हैं।

मनुष्य की जो इच्छायें पूरी नहीं होतीं वे सब इसमें जमा हो जाती हैं। इनका व्यक्तिगत जीवन से ही सम्बन्ध नहीं बल्कि वंशपरम्परा से है। आज भी उसकी कामनायें कायम हैं और उनकी पूर्ति की चेष्टा भी चल रही है। हमारी क्षणिक और क्षीण इच्छाओं का भी क्षय नहीं होता। हम

जिसको भूलना कहते हैं उसे भूलते नहीं। अचेतन मन में उसे ठेल देते हैं। मनुष्य इन इच्छाओं को जन्मजन्मान्तर से मूलधन के रूप में लेकर जन्म लेता है। हम भी तो 'उत्थाय हृदि लीयन्ते' ही कहते हैं, 'नश्यन्ति' नहीं।

अचेतन मन इन्द्रियनिरपेक्ष, भाषानिरपेक्ष तथा चिन्तानिरपेक्ष विस्मृति का गाढ़ान्धकारपूर्ण गुफा है। अधिचेतन मन स्मृतियों का भण्डार है। स्मरण करने का आशय है अधिचेतन मन में चाञ्चल्य उपस्थित होना और उसका अचेतन मन में चला जाना समझना। प्रयोजनीय ज्ञान, आनन्द-दायक भाव तथा सद्योजात घटनायें जो विस्मृत नहीं होतीं उसका कारण यही है कि वे अधिचेतन मन में सदा जागरूक रहती हैं। स्मरण होने का अर्थ है अधिचेतन मन से सचेतन मन में आना।

पाठक हमारे यहाँ के 'मनमें पूर्वजन्म के भावस्थिर सौहार्द को अज्ञात रूप से स्मरण करना' और फ्रायड के 'जन्मजन्मान्तर की कामनाओं को लेकर जन्म लेना' कितना साम्य रखता है! प्राच्य शास्त्र और पाश्चात्य विज्ञान से यह सिद्ध है कि जन्मान्तर का संस्कार-वासना अपने प्रभाव से बहुत काम कराती है। उनमें एक प्रतिभात्मक अप्रस्तुतयोजना की सामर्थ्य ला देना भी है।

इस वासना की बात का उल्लेख अनेक स्थानों में पाया जाता है।

१ मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्। रघुवंश ७।१५

अन्तिम चरण का अर्थ है—वासना-विशेष-वश अनुभूत विषयों में मन की प्रवृत्ति विशेष रहती है।

२ जन्मनः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः।

रघु० ११।२२

३ पुराणो वा जन्मान्तरनिविडबन्धः परिचयः। उ० रा०

इनमें प्रथम जन्म की चेष्टाओं का और जन्मान्तर के गाढ़ परिचय का स्मरण वासनामूलक ही है।

४ समुपविश्य भूमौ किमप्यन्तरात्मना स्मरन्निवानुध्यायन्निव निर्विकारवदनो गलितलोचनपयोधरासन्तानस्तूष्णीमधोमुखः तस्थौ। उत्तर कादम्बरी

अन्तरात्मा से स्मरण वासनाविशेष का ही परिणाम है।

अब हिन्दी की बात लीजिये—

बँधे जीवों की बन माया फेरती फिरती हो दिन रात।
दुख सुख के स्वर की काया सुनाती है पूर्वश्रुत बात।
जीर्ण जीवन का दृढ़ संस्कार चलाता फिर नूतन संसार॥ नि०

स्मृति की ही यह लीला है। इसमें संस्कार वासना ही का द्योतक है। स्मरणातीत बात को स्मृतिपथ में लाना पूर्वश्रुत बात का सुनाना है।

हम इस जन्म या जन्मान्तर में जो कुछ सुन्दर, मधुर, सुकुमार, मनोहर अद्भुत, अपूर्व वस्तुएँ, दृश्य, घटनायें देखते-सुनने और अनुभव करते हैं, वे हमारे मन में पैठ जाते हैं और उनका एक संस्कार बँध जाता है। बहुत दिनों का वह संस्कार हमारे वासना-लोक की सृष्टि करता है।

जब हम कोई बाहरी वस्तु वा घटना को लक्ष्य में लाते हैं तब वे वासना रूप से मन:संचित वस्तुयें समानता वा असमानता के कारण जाग उठती हैं। क्योंकि उनमें सामान्य धर्मगुण रहते हैं। इससे समान अनुभूति की सृष्टि होती है। फिर तो अप्रस्तुतयोजनाओं की झड़ी लग जाती है।

मृदूर्मिल सरसी में सुकुमार अधोमुख अरुण सरोज समान।
मुग्ध कवि के उर के छू तार प्रणय का सा नव आकुल गान।
तुम्हारे शैशव में सोभार पा रहा होगा यौवन प्राण।
स्वप्न सा विस्मय सा अम्लान प्रिये प्राणों की प्राण। पंत

यह प्राणों की प्राण साक्षात् प्रिया नहीं है। यह कवि की कल्पित मानसी प्रतिमा है। इस प्रिया में जो रूप गुण हैं, महिमा-गरिमा है, सौन्दर्य-माधुर्य है, वह उसकी वास्तव सत्ता में निहित नहीं है। कवि की यह मानसी मूर्ति वस्तुतः वासनामयी मूर्ति है। इसमें उपमाओं का जो प्राचुर्य है, वह वासना का ही फल है। काव्य की प्रिया वासना की ही प्रिया होती है और वासनोद्भूत अप्रस्तुतयोजनाओं से सजी-धजी हमारे सामने आती है।

वासना की कोई रूप-रेखा आँकी नहीं जा सकती। वह मनुष्य की आन्तरिक गम्भीर स्मृति-स्वरूप है। स्मृति के कई प्रकार हैं। स्मरण का ही एक रूप संस्कार है। साराश यह कि भाषा की सहायता से काव्य में हम जिसको रूप देना चाहते हैं वह कोई बाहरी दृश्य वा घटना नहीं है। यह तो बाहरी वस्तु वा घटना का आलंबन करके हमारे मन की वासना का ही उद्रेक है।

वासना-रूप में प्रस्फुटित अप्रस्तुतयोजनाओं की छटा इस पुस्तक में सर्वत्र दृष्टिगोचर होगी और अप्रस्तुतयोजनाओं के मूल मे वासना काम करती है, यह प्रमाणित होगा।

रामदहिन मिश्र

काव्य में अप्रस्तुतयोजना

प्रथम रूप

अप्रस्तुतयोजना

पहला रंग—नामकरण

शुक्लजी ने अपने व्याख्यान में यह लिखा है कि

"दिन में सैकड़ों बार 'हृदय की अनुभूति, 'हृदय की अनुभूति' चिल्लायेंगे पर 'रस' का नाम सुनकर ऐसा मुँह बनायेंगे मानो उसे न जाने कितना पीछे छोड़ आये हैं। भलेमानुस इतना भी नहीं जानते कि हृदय की अनुभूति ही साहित्य में 'रस' और 'भाव' कहलाती है। यदि जानते तो कोई नया आविष्कार समझकर 'हृदयवाद' लेकर सामने न आते। सम्भव है, इसका पता पाने पर कि 'हृदयवाद' तो 'रसवाद' ही है, वे इस शब्द को छोड़ दें[1]।"

इस उद्धरण को पढ़नेवाले यही समझेंगे कि शुक्लजी प्राचीनता के बड़े परिपोषक हैं और नवाविष्कार के समर्थक नहीं हैं। पर वास्तविकता इसके विपरीत है।

उपमान शब्द बहुत पुराना है और इसीके प्रयोग की परिपाटी चली आती है। इसका अर्थ होता है—जिससे उपमा दी जाय—The object with which comparison is made. उपमान शब्द के स्थान पर उन्होंने 'अप्रस्तुतविधान' और 'अप्रस्तुतयोजना' दो नये शब्दों का प्रयोग किया। यद्यपि इनमें पहले की अपेक्षा दूसरे का प्रयोग यथार्थ और यथा-योग्य है तथापि दूसरा तो पिछड़ गया और पहले का प्रचार यथेष्ट हो गया।

---

1 इन्दौर का भाषण

शुक्लजी के नये प्रयोग का कारण कुछ समझ में नहीं आता। 'उपमान' शब्द उन्हें क्यों अरुचिकर प्रतीत हुआ, इसका अनुमान करना कठिन है। हो सकता है कि 'उपमान' में उपमा की बात होने से इस शब्द को उपमालंकार के ही योग्य समझा हो। पर उपमान केवल उपमा का ही पक्षपाती नहीं। उपमान का तुलना करना, समता करना आदि भी अर्थ हैं। इस दशा में उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त आदि अलंकारों में आनेवाली उत्प्रेक्षित वस्तुएँ, प्रतिबिम्बात्मक वस्तुएँ आदि भी उपमान-कोटि में आती हैं। सभी औपम्यगुगर्भ अलंकार कहे भी जाते हैं।

अप्रस्तुतविधान के प्रयोग में गड़बड़ है। पहली बात तो यह कि 'अप्रस्तुत' शब्द विशेषण है। विश्वनाथ ने ऐसा ही प्रयोग किया[1] है। पर 'अप्रस्तुतविधान' शब्द में 'अप्रस्तुत' का प्रयोग विशेष्य रूप में हुआ है। इससे यहाँ अप्रस्तुत को किसी विशेष्य की अपेक्षा झलकती है। जहाँ विशेष्य रूप में इसका प्रयोग होता है वहाँ विषय विरुद्ध बोलना, अनाप-सनाप बकना (Absurd), उद्देश्य से बहक जाना अर्थ होता[2] है।

दूसरी बात यह कि विधान का अर्थ करना है। वि पूर्वक धा. धातु का अर्थ करना ही होता[3] है। विधान के अर्थ अनेक हैं—करना, बनाना, सिलसिला बैठाना, पूरा करना, प्रयोग करना, सम्पादन करना, नियम बनाना आदि। पर इसके जुटाना, इकट्ठा करना, वर्ण्य वस्तु के लिये अवर्ण्य वस्तु को ला भिड़ाना आदि अर्थ व्यवहार और कोष से उपलब्ध नहीं होते। अतः अप्रस्तुतविधान उपमान के लिये उतना उपयुक्त अर्थ-बोधक नहीं है जितना कि अप्रस्तुतयोजना।

आज केवल उपमान लाने के अर्थ में ही 'विधान' का प्रयोग नहीं हो रहा है; बल्कि साहित्यिकों में इसके प्रयोग की बड़ी भरमार हो गयी है। शुक्लजी के ही प्रयोग देखें—

"शुभ और सात्विक भावों की अशुभ और तामस भावों पर चढ़ाई और विजय ऊँचे साहित्य का विधान है। क्रूरता पर क्रोध, अत्याचारियों का ध्वंस, पापियों को जगत् के मार्ग से हटाना मध्यम काव्य का विधान[4] है।"

---

१ क्वचिद्विशेषः सामान्यात्...अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेत्...। सा० द०

२ रे गोरभ! किमप्रस्तुतं लपसि। पंचतन्त्र

३ वि पूर्वो धा. करोत्यर्थे...। आख्यातचंद्रिका

४ काव्य में रहस्यवाद

यहाँ दोनों स्थानों के 'का विधान' के स्थान पर 'के कार्य' या 'के विषय' ही यथार्थ अर्थद्योतन की सामर्थ्य रखते हैं। ऐसे ही

"कल्पना है काव्य का क्रियात्मक बोधपक्ष जिसका विधान...। 'उद्दीपन रूप में जो वस्तुविधान होता है...। 'भावों का विधान करके रसमग्न करनेवाली रचना ..आदि'। ये वाक्यांश हैं और 'छन्दविधान', 'अलंकारविधान', 'प्रबन्धविधान' आदि समस्त शब्द हैं।

ऐसे मनमाने प्रयोग अर्थ को अनर्थ करनेवाले हो जाते हैं।

शुक्लजी ने योजना शब्द का प्रयोग किया है और उपयुक्त स्थान पर ही किया है जैसे कि अप्रस्तुतयोजना, संश्लिष्टयोजना आदि। किन्तु 'गुरु गुड़ ही रह गये और चेला चीनी बन गये' की कहावत चरितार्थ करनेवाले एक चेले ने योजना का प्रयोग यों कर डाला। 'काव्य में शब्द और अर्थ की योजना रहती है।' क्या अर्थ शब्द में नहीं रहता कि कहीं से उसे लाकर भिड़ाना पड़ता है? माना कि इनका अन्योन्याश्रय है, एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता, पर इनकी योजना कैसी? 'उपयुक्त अर्थ के बोधक शब्द का प्रयोग करना' यदि उक्त वाक्य का अर्थ किया जाय तो वह यथार्थ नहीं कहा जा सकता।

हम शब्दों के नये अर्थों में प्रयोग करने के विरोधी नहीं हैं और न हरे-भरे खेत में राह निकालने के समर्थक ही हैं। यदि हमारी आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो तो नये अर्थों में शब्दों का प्रयोग ही न करें, बल्कि नये शब्द गढ़ें भी। पर उपयुक्त तथा प्रचलित शब्दों का परित्याग न करें और मनमानी से काम न लें।

यदि 'विधान' शब्द अपना उद्देश्य पूरा करता है—पाठक और श्रोता उससे वक्ता के आशय को समझ लेते हैं तो ठीक ही है। ऐसे अर्थों में वह अपनी रूढ़ि स्थापित कर ही लेगा। पर हमें तो 'अप्रस्तुतविधान' की अपेक्षा 'अप्रस्तुतयोजना' शब्द ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

दूसरा रंग—अप्रस्तुतयोजना या उपमान ?

विवेचकों का कहना है कि उपमान अपने भीतर जितना अर्थ ग्रहण करता है उससे कहीं अधिक अप्रस्तुतयोजना के पेट में अर्थ पैठ जाता है। उपमान शब्द यह प्रकट करता है कि जहाँ तुलना हो वहीं इसका प्रयोग उचित है और उन्हीं अलंकारों में हो सकता है जो औपम्यगर्भ हैं और जिनकी एक श्रेणी है। पर बात ऐसी नहीं है। सादृश्यगर्भ अलंकार का

बहुत व्यापक क्षेत्र है। शेष अप्रस्तुतयोजनाएँ प्रायः अर्थ से विशेष सम्बन्ध रखती हैं।

अप्रस्तुतयोजना बाहर से लायी जानेवाली सारी वस्तुओं को ग्रहण करती है चाहे अप्रस्तुत का कैसा ही रूप क्यों न हो। अप्रस्तुत विशेष्य हो, विशेषण हो, क्रिया हो, मुहाविरा हो, चाहे और कुछ हो, इसके भीतर सब समा जाते हैं। विशेष्य को ही लीजिये—

१ छाया की आँखमिचौनी, मेघों का मतवालापन।
२ पीले मुख पर संध्या के वे किरणों की फुलझड़ियाँ। महादेवी

इनमें 'आँखमिचौनी' और 'फुलझड़ियाँ' रूपक के रूप में आयी हैं पर वे हैं विशेष्य। 'आँखमिचौनी' 'छाया' का वह दृश्य उपस्थित करती है जिस में कभी वह हट जाती है और कभी आ जाती है। इस खेल में यही होता है कि कभी आँखें मुँद जाती हैं और कभी खुल जाती हैं। संध्याकाल में किरणें भी छूटी पड़ती हैं जैसे फुलझड़ियों से चमकती तितलियाँ छूटती हैं।

इनमें भी उपमान की बातें कहें तो कोई अनुचित नहीं। दोनों में ही उपमान वर्तमान हैं। साभिप्राय विशेष्यकथन में 'परिकरांकुर' नामक एक अलंकार होता है। जैसे—

निकले भाग्य हमारे सूने, वत्स दे गया तू दुख दूने।
किया मुझे कैकेयी तूने, हा कलंक यह काला। गुप्तजी

यहाँ कैकेयी साभिप्राय विशेष्य है। इसे गौतम के महाभिनिष्क्रमण—तपस्या-के लिये जाने पर उनकी माता महाप्रजावती ने कहा है। कैकेयी ने राम को वनवास दिया था। मैंने भी वैसे ही गौतम को वनवासी बनाया। इसका यही अभिप्राय है। यहाँ भी उपमान शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।

सुन्दर शैशव यौवन रे! सुन्दर सुन्दर जग-जीवन

के समान काव्यों में विशेषण विशेषण ही रहेगा। इसमें न तो अप्रस्तुतयोजना की ही बात कही जा सकती है और न उपमान की ही। पर

विद्रुम औ मरकत की छाया सोने-चाँदी का सूर्यातप।
हिम परिमल की रेशमी वायु शतरत्नछाय खगचित्रित नभ। पंत

में जब 'रेशमी' वायु कहते हैं तब वायु की कोमलता, चिक्कणता तथा सुखदायकता प्रतीत होती है। यहाँ अप्रस्तुतयोजना की बात कही जा सकती है। क्योंकि साधारण विशेषणों की अपेक्षा इसमें अन्य प्रकार की विशेषता

है। इसमें कवि की अपनी अनुभूति है और उसकी अपनी योजना है। इस दशा में यह उपमान भी कहा जा सकता है। साभिप्राय विशेषण में परिकर अलंकार होता है। उसमें भी उपमान की बात कही जा सकती है, पर सामान्य विशेषण की अपेक्षा साभिप्राय विशेषण में एक वैलक्षण्य होता है।

किन्तु विरह वृश्चिक ने आकर अब यह मुझको घेरा।
गुणी गारुड़िक दूर खड़ा तू कौतुक देख न मेरा। गुप्तजी

गारुड़िक अर्थात् तंत्र-मंत्रज्ञ विशेषण से यह व्यक्त होता है कि विरह वृश्चिक के दंशन से मुक्त करने में तू ही समर्थ है। तू ही विरहव्यथा दूर करनेवाला है।

छपी सी पी सी मृदु मुसकान
छिपी सी खिंची सखी सी साथ। पंत

इसमें 'छपी' और 'पी' दोनों क्रियाएँ हैं।

इसके ओठों पर उसकी मुसकान ऐसी प्रतीत होती थी जैसे उसके मुख पर छाप दी गयी हो। वह हँसी जैसे पी गयी हो, पर वह पीना यथार्थ नहीं था। इन क्रियाओं की योजना अप्रस्तुत की सीमा में आ सकती है, और इनमें उपमान का भी भाव है। दोनों के नाम यथार्थ हैं।

तीसरा रंग—अप्रस्तुतयोजना : अलंकार

उपमेय और उपमान के स्थान पर आजकल अधिकतर प्रस्तुत और अप्रस्तुत ही का व्यवहार किया जाता है। उपमेय को प्रासंगिक, प्राकरणिक, प्रकृत तथा प्रधान और उपमान को अप्रासंगिक, अप्राकरणिक, अप्रकृत तथा अप्रधान भी कहते हैं। प्रस्तुत और अप्रस्तुत नये शब्द नहीं हैं।

अलंकार-शास्त्र में 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' नामक एक अलंकार है। उसमें प्रस्तुताश्रय अप्रस्तुत का वर्णन होता है। अर्थात् प्रस्तुत के लिये अप्रस्तुत का कथन किया जाता है। यह कथन सम्बन्ध-विशेष पर निर्भर है।

अप्रस्तुत अनेक प्रकार के हो सकते हैं और उनकी योजना भी अनेक प्रकार की हो सकती है। कल्पना की कोई सीमा नहीं। एक-दो उदाहरण लें—

सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे
स्वप्न के उच्छ्वास-सा वह कौन है? महादेवी

प्रस्तुत परमात्मतत्त्व के लिये 'कौन' भी अप्रस्तुत कहा जा सकता है। 'स्वप्न के उच्छ्वास-सा' यह अप्रस्तुतयोजना 'कौन' के लिये है। इससे 'कौन'

प्रस्तुत-सा प्रतीत होता है पर 'कौन' उच्छ्वास-सा नहीं हो सकता। 'कौन' भी परमात्मतत्त्व का निर्देशक होने से उसे भी अप्रस्तुतयोजना कहने से हम नहीं हिचकेंगे। प्रश्न-रूप में यही स्वप्न के उच्छ्वास सा है। चमत्कारक होने से इसमें 'प्रश्न' अलंकार भी है।

रह गयी बात यह कि इसे उपमान कहेंगे या नहीं। हम कहेंगे कि 'कौन' के प्रयोग में जो वैलक्षण्य है वही उपमान का काम करता है और यह उपमान भी कहा जा सकता है। दूसरों के लिये यह 'कौन' ऐसा वैलक्षण्य नहीं रखता। वहाँ वह साधारण प्रश्न-सूचक सर्वनाम ही रहता है।

हाँ सखि ! आओ बाँह खोल हम लगकर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अन्तर्धान। पंत

इस पद्य का आध्यात्मिक अर्थ लें तो यही होगा कि छाया-रूप जगत् को जहाँ तक हो प्यार कर लिया जाय। उसके सुख-दुख उठा लिये जायँ। फिर दोनों का संयोग असम्भव है। क्योंकि आत्म-रूप मैं परमात्म-रूप में और तुम महाशून्य में विलीन हो जावोगी। यहाँ प्रस्तुत महाशून्य और परम प्रकाश के लिये तम और प्रियतम अप्रस्तुत की योजना है। इसमें भी इन्हें उपमान कहा जा सकता है। क्योंकि ये उपमानों के स्थान पर हैं और इस प्रकार रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

सारा 'पद्मावत' काव्य ही प्रस्तुत और अप्रस्तुत का रहस्य बना हुआ है। रत्नसेन, पद्मावती, सुआ आदि को अप्रस्तुत रूप में मानकर साधक, परमात्मा, सद्गुरु आदि प्रस्तुत की कल्पना की गयी है। 'जायसी' ने पद्मावत के अन्त में अपने प्रबन्ध को व्यङ्गगर्भित कहकर प्रस्तुताप्रस्तुत के चक्कर में पाठकों को डाल दिया है। यहाँ यह भी उपमान है। इसमें भी रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत उपमेय और उपमान के स्थान पर ही माने जाते हैं। शुक्लजी ने इन्हीं शब्दों को कोष्ठकों में रखकर प्रस्तुत और अप्रस्तुत को समझाया है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—"प्रस्तुत वस्तु और आलंकारिक वस्तु में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव हो अर्थात् अप्रस्तुत (कवि द्वारा लाई हुई) वस्तु प्रस्तुत वस्तु से रूप-रंग आदि में मिलती-जुलती हो...।" इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो अप्रस्तुत आलंकारिक वस्तु है और वह कवि द्वारा लायी जाती है।

चौथा रंग—अलंकारों की स्थिति

अलंकारों की स्थिति के सम्बन्ध में ध्वनिकार ने लिखा है—"अङ्गाश्रित अर्थात् अङ्गरूप से वर्तमान अलंकारों को कटक आदि मानवीय अलंकारों की भाँति समझना चाहिये"[1]। इसी बात को कविराज विश्वनाथ भी दुहराते हैं—"कटक, कुण्डल की भाँति अलंकार रस के उत्कर्षविधायक माने जाते[2] हैं।"

आचार्यों का उपर्युक्त अभिमत विचारणीय है। काव्य में अलंकार सर्वथा उसी भाँति नहीं होते जैसे कि कटक, कुण्डल आदि। ये आभूषण ऐसे हैं जो शरीर से पृथक् किये जा सकते हैं। ऐसे अलंकार उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि कहे जा सकते हैं। किन्तु काव्य के अधिकांश अलंकार पृथक् नहीं किये जा सकते। कटक आदि शरीर के अंगभूत नहीं हैं पर अनेको अलंकार शरीर के अंगभूत हैं। इससे यहाँ कटक, कुण्डल की उपमा केवल इतना ही व्यक्त करती है कि अलंकार से काव्य की श्रीवृद्धि होती है। सर्वथा ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि काव्य में सभी अलंकार अँगूठी में नगीनों की भाँति जड़ दिये जाते हैं या अलंकार सर्वांशतः कोई बाहरी वस्तु हैं।

हमारे इस मतभेद का कारण है विश्वनाथ का उपर्युक्त यह कथन कि अलंकार रसादि के उपकार करनेवाले माने जाते हैं। रस शब्दार्थगत है। रस के उपकरण शब्दार्थ के उपकारक होते हैं। इस दशा में जहाँ रस के उपकारक अलंकार हैं उन्हें यह कहा जा सकता है कि वे बाहर से लाये हुए सौन्दर्य के उपादान हैं। जहाँ अलंकार काव्य-सौन्दर्य के साधन हैं वहाँ वे शब्द और अर्थ के ही रूपमात्र हैं। जहाँ शब्दार्थ के अलंकार से ही काव्य का रूप खड़ा होता है वहाँ अलंकार के अलंकारत्व को नष्ट कर डालने से काव्य भी रूप-रस-हीन हो जायगा। इसीसे आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि रसों की अभिव्यक्ति में अलंकार काव्य के बहिरंग नहीं माने जाते[3]। अभिप्राय यह कि रूप जहाँ अलंकाराश्रित है वहाँ रसोपलब्धि भी अपृथग्भाव से होती है। दोनों का ऐसा सम्बन्ध नहीं होता कि उनको विलग-विलग किया जा सके।

---

१ अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्। ध्वन्यालोक

२ रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्। साहित्यदर्पण

३ न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ। अ० भारती

क्रोचे ने दोनों रूपों की इस प्रकार विवेचना की है—"स्वयं इस बात की
जिज्ञासा की जा सकती है कि अलंकार को अभिव्यक्ति के साथ कैसे जोड़ा जा
सकता है। क्या बहिरंग भाव से? इस दशा में वह सर्वदा पृथक् भाव से रह
सकता है। क्या अन्तरंग भाव से? इस दशा में या तो अभिव्यक्ति की
सहायता नहीं करता और उसे नष्ट कर डालता है अथवा उसका अङ्ग ही हो
जाता है और अलंकार रूप में नहीं रह पाता। वह सम्पूर्ण से अविशेष
अभिव्यक्ति का एक मौलिक साधन बन जाता है[1]।
जैसा देखा जाता है, हमारे मत से अलंकार तीन श्रेणियों में बाँटे जा
सकते हैं—

(१) अप्रस्तुत वस्तुयोजना के रूप में आनेवाले—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा
आदि। (२) वाक्यवक्रता के रूप में आनेवाले—व्याजस्तुति, समासोक्ति
आदि। और, (३) वर्णविन्यास के रूप में आनवाले—अनुप्रास आदि।
सभी अवस्थाओं में अलंकारों का उद्देश्य भावों को तीव्रता प्रदान करना तथा
सौन्दर्याधान करना ही होता है।

पाँचवाँ रंग—अलंकार का सौंदर्य

वाग्भट कहते हैं—"श्रुतिकटु आदि दोषों से रहित और प्रसाद आदि
गुणों से युक्त भी काव्य, जिसके बिना, स्त्री के रूप के समान सुशोभित नहीं
होता उस अलंकार-समुदाय का वर्णन करता हूँ[2]। इसीको कविराय
केशवदास यों कहते हैं:—

भूषण बिनु न विराजई कविता वनिता मित्त॥

अलंकार शोभा के लिये है। पर यह आवश्यक नहीं कि अलंकारों से
ही वनिता और कविता की शोभा बढ़ती है। यद्यपि सौन्दर्य का मूल्य द्रष्टा

---

1. One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally? In this case it must always remain separate. Internally? In this case either it does form part of it and is not ornaments, but a constituent element of expression indistinguishable from the whole.

२.
गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वचः।
व नो भाति तं ब्रुवेऽलंक्रियोच्चयम्॥ वाग्भटालंकार

की रुचि पर निर्भर है तथापि साधारण दृष्टि से देखने पर सिर से पैर तक सोने से लदीफदी स्त्री सम्पन्नकुल की भले ही समझी जाय पर वह सुन्दरी कभी न समझी जायगी। देश, काल, समाज तथा रुचि की भिन्नता से वस्त्रालंकार के धारण में भिन्नता उस देश के व्यक्तियों को सौन्दर्याधायक भले ही प्रतीत हो पर वे कितने ही बेशकीमत क्यों न हों सर्वथा सौन्दर्य के साधक न होकर बाधक ही बन जाते हैं। अलंकार्य और अलंकार में सच्चा सामञ्जस्य होने से ही सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है।

पर काज ही देह को धारे फिरौ पर जन्य जथारथ है परसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सब ही विधि सज्जनता सरसौ॥
घन आनँद जीवनदायक हौ कछु मेरियौ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन में अँसुवान ही लै बरसौ॥

यह सवैया बड़ा ही सीधा-सादा है। इसमें भाव की वह विभूति है कि भावक इससे अभिभूत होकर अपने को भूल जाता है। फिर भी आलंकारिकों की दृष्टि से यहाँ परिकर अलंकार है। क्योंकि इसमें साभिप्राय विशेषण द्वारा विशेष्य का कथन है। जीवनदायक का जलदायक अर्थ है और जीवन-दायक भी—प्राणदायक भी। इस सवैया का यही जीवन है। एक परजन्य शब्द भी ऐसा ही है जो 'पर्यन्य' का विकृत रूप है और उसका पर जन्य मनमानी अर्थ किया गया है। इस अलंकार ने कविता के सौन्दर्य की वृद्धि कर दी है।

जितने कष्ट कण्टकों में है जिनका जीवन सुमन खिला।
गौरव गंध उन्हें उतना ही अत्र तत्र सर्वत्र मिला॥

का रूपकालंकार काव्य-सौन्दर्य का जितना पोषक और साधक है उतना गुप्तजी की इस कविता का उपमा अलंकार या उत्प्रेक्षा की ध्वनि सौंदर्याधायक नहीं।

वैतालिक विहंग भाभी के सम्प्रति ध्यान-लग्न से हैं।
नये गान की रचना में वे कविकुलतुल्य मग्न से हैं॥

इसकी अलंकार-योजना में बुद्धि-बलात्कार है। स्वाभाविकता प्रतीत नहीं होती। विहंग हों या वैतालिक, उनका मौन उन्हें शोभा नहीं देता।

कहने का अभिप्राय यह कि सौन्दर्याधायक वस्तुओं को समुचित रूप से सजाने के लिये कला की आवश्यकता है। सजावट की कला का पारखी ही कला की दृष्टि से उनकी योजना कर सकता है। इसी दशा में सौन्दर्य की सृष्टि की जा सकती है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि कलाकारो की

सभी कलात्मक अभिव्यक्ति स्वाभाविक या अकृत्रिम नहीं होती। कृत्रिमता सौन्दर्य की उतनी पोषिका नहीं हो सकती।

जैसे टाट की अँगिया में रेशम के फूल शोभा नहीं देते वैसे ही असुंदर स्त्री के अशोभन अंगों पर भूषण भी शोभा नहीं देते। व्यासजी कहते हैं—"अलंकृत काव्य—शब्दार्थालंकार-सहित भी काव्य का निर्गुण अर्थात् माधुर्य आदि गुणों से रहित होना उचित नहीं। क्योंकि असुन्दर—कुरूप-सुश्लिष्ट अवयवों से हीन तथा विवर्ण—उज्ज्वल-आभा-हीन स्त्री के गले का हार भी भार रूप हो जाता है।" अर्थात् वह हार न तो शरीर की शोभा ही बढ़ाता है और न वह रसिकों के हृदयों में रस-संचार ही करता[1] है। अभिप्राय यह कि नीरस कविता सालंकार होने पर भी रागात्मक वृत्तियों को जागरित नहीं कर सकती। ऐसे स्थानों पर कवि की आलंकारिक योजना व्यर्थ ही है। कभी-कभी देखा गया है कि सुन्दर स्त्री के दमकते हुए अंग आभूषणों की आभा को मंद कर देते हैं। कुछ ऐसी सुषमा उत्पन्न कर देते हैं कि वे भूषणों के लिये ही भूषण बन जाते हैं।[2]

सुन्दर और उज्ज्वल अंगों में भूषण की छटा कैसी होती है, बिहारी के दोहे से वह स्पष्ट है।

> अंग-अंग प्रतिबिंब परि दरपन सें सब गात।
> दुहरे तिहरे चौहरे भूषन जाने जात॥

सगुण काव्य में भी अलंकार की ऐसी ही आभा उफनी पड़ती है। नीरस काव्य में अलंकार भी कैसे कांतिहीन प्रतीत होते हैं। देखिये—

> जोगिन भोगिन बिरहिनी सेनापति सम कीन।
> नैना को जल ना दियो पाँव महावर दीन॥

इसमें श्लेष के अर्थ का ही चमत्कार है, कविता का कुछ स्वारस्य नहीं। योगिनी ने नेत्रों में काजल नहीं दिया और पैर में महावर नहीं दिया। भोगिनी ने आँखों में काजल डाल दिया और पाँवों में महावर दिया। विरहिनी ने काजल नहीं दिया और पैर महावर से दीन हैं अर्थात् शून्य हैं। इस अलंकार और कविता से क्या सम्बन्ध! यह तो एक तमाशा है!

---

१ अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्यललिते स्त्रीणां भारो हारायते परम्॥ अग्निपुराण

२ अंगानि भूषणानां कामपि सुषमामजीजनत्तस्याः॥

अचानक यह स्याही का बूँद लेखिनी से गिरकर सुकुमार।
गोल तारा सा नभ से कूद सजनि आया है मेरे पास॥ पंत

गोलाई का सादृश्य रहने पर भी तारा और बूँद की समता कैसी! लेखिनी से गिरना और आकाश से कूदना एक-सा है? यहाँ का अलंकार जबर्दस्ती का ठूँस-ठाँस है। कविता कामिनी का यह अलंकार-हार भारसदृश हो गया है।

अलंकारों की योजना करने में एक सहृदयतापूर्ण अनुभूति से उत्पन्न विशेष विदग्धता की आवश्यकता है जो यह अनुभूत कर सके कि यह योजना भावोत्कर्ष में, रसोद्रेक में, प्रेषणीयता में सौन्दर्यबोध में सहायक हो सकती है। सहृदय कलाकार ही चमत्कारक ढंग से हृदय को गुदगुदाता हुआ रसिकों को रसाप्लुत करने में समर्थ हो सकता है।

छठा रंग—अलंकार का प्रभाव

काव्य के दो पक्ष हैं—कलापक्ष और भावपक्ष। कला को शरीर समझें तो भाव को प्राण। शरीर स्वस्थ और सुन्दर हो तो प्राण भी प्राणवान् होता है—जान में जान आती है। दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। जब तक काव्य के कलापक्ष की श्रीवृद्धि नहीं होगी, उसका सौन्दर्य न बढ़ाया जायगा तब तक वह काव्य प्रभावशाली न होगा।

भाव को तीव्र करने, व्यञ्जित करने, सुबोध तथा प्राञ्जल बनाने और उसमें चमत्कार लाने के जो अनेक साधन हैं, उनमें अलंकार की मुख्यता है। प्राचीनों ने तो इसको साधन के स्थान पर साध्य-सा बना लिया था। वह युग अब नहीं रहा। नवीनों ने मानवीकरण आदि पाश्चात्यविचारमूलक अलंकारों को प्रधानता दी है। जहाँ-जहाँ कलापक्ष की पुष्टि के लिये काव्य में अलंकार का प्रवेश कराया गया है वहाँ-वहाँ भाव चमक उठा है। आज भी अलंकारों का प्रभाव अक्षुण्ण है।

'युग की गंगा' की भूमिका में केदारनाथ अग्रवाल लिखते हैं—"अब हिन्दी की कविता न 'रस' की प्यासी है न 'अलंकार' की इच्छुक है और न संगीत की तुकांत पदावली की भूखी है। अब वह चाहती है—किसान की वाणी, मजदूर की वाणी और जन-जन की वाणी।" मैं इनके इस प्रकार के मत का विवेचन विस्तृत रूप से 'काव्यदर्पण' की भूमिका में कर चुका हूँ। यहाँ इस सम्बन्ध में यही कहना पर्याप्त है कि केदारनाथजी की वे ही

कविताएँ सुन्दर हैं जिनमें रस और अलंकार हैं, संगीत और अनुप्रास हैं। शेष को तो प्रचार-सामग्री ही कहा जा सकता है। यह मेरा ही नहीं, अनेक प्रगतिवादी नवयुवक साहित्यिकों का भी विचार है।'

अलंकार में यह देखना आवश्यक है कि अप्रस्तुतयोजना से वर्ण्य विषय की सौन्दर्य-वृद्धि होती है कि नहीं, उसमें एक अतिरिक्त सौन्दर्य आता है कि नहीं। जब हम कहते हैं—'कनक से दिन मोती सी रात' तब दिन की पीतोज्ज्वल आभा और चाँदनी रात की श्वेतोज्ज्वल आभा झलक जाती है और दिन-रात में एक अतिरिक्त सौन्दर्य फूट पड़ता है। यह अलंकार ही का प्रभाव है।

यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता कि जहाँ कल्पना का आधार नहीं हो, वहाँ अलंकार मानना दुराग्रह है। कहाँ कल्पना है कहाँ नहीं, यह तो कवि-प्रतिभा पर आक्रमण है।

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश
पल-पल परिवर्तित प्रकृतिवेश

में कौन सी कल्पना है पर अनुप्रास अलंकार स्पष्ट ही है।

अनलंकृत भाव भी अपनी महत्ता रखता है, प्रभावोत्पादक भी होता है। यद्यपि अलंकार को बहुत व्यापक तथा विस्तृत बना दिया गया है और उससे पिंड छुड़ाना सहज नहीं तथापि एक उदाहरण लें—

हों नहीं क्षन्तव्य जो मेरे विगर्हित पाप,
दो वचन अक्षय रहे यह ग्लानि; यह परिताप। दिनकर

इसमें अशोक के किसी अज्ञात शक्ति से की गयी प्रार्थना में कोई अलंकार नहीं। फिर भी इसमें कवि की गहरी कल्पना है। युद्ध में अपनी की हुई कुटिल क्रूरता से जो परिताप उपजा उसके अक्षय रहने की प्रार्थना यह सूचित करती है कि आगे मुझसे ऐसे नर-संहार-रूप कुकृत्य न हों। ग्लानि की अक्षयता साम्राज्यलिप्सा की ओर मुख मोड़ने नहीं देगी। इसमें कल्पना है पर अलंकार नहीं है।

अहिल्योद्धार की बात सर्वविदित है। यह रचना तो ऐसी मालूम होती है, जैसे यथावसर की बात-चीत कर रहे हैं। यहाँ कल्पना का आश्रय कहाँ लिया गया है? फिर भी इसमें व्यतिरेकालंकार आ ही गया है।

क्षमा करो इस भाँति न तुम तज दो मुझे
स्वर्ण नहीं हे राम! चरण रज दो मुझे।

जड़ भी चेतन मूर्ति हुई पाकर जिसे
उसे छोड़ पाषाण भला भावे किसे। गुप्तजी

बड़ा ही सरल और कोमल भाव है। हृदय रस से सराबोर हो जाता है। जानकी के स्वर्ण-मणि-मुद्रिका देने के समय गुह की यह उक्ति है। इस प्रकार हम तो स्वाभाविक कवि की किसी उक्ति को कल्पनाशून्य नहीं मानते।

सातवाँ रंग—अलंकार के कार्य

"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति अलंकार है।" शुक्लजी

इसीके अन्तर्गत प्रभावोत्पादकता और प्रेषणीयता भी आ जाती है। इस प्रकार अलंकारों के दो कार्य हुए—(१) भावों का उत्कर्ष दिखाना तथा (२) वस्तुओं के (क) रूपानुभव को (ख) गुणानुभव को और (ग) क्रियानुभव को तीव्र करना।

१ भावों की उत्कर्ष-व्यञ्जना में सहायक अलंकार—

प्रिय पति वह मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है?
दुख-जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है? हरिऔध

यहाँ प्राण-प्यारा, नेत्र-तारा, हृदय हमारा आदि में जो उपमा और रूपक अलंकार आये हैं उनसे यशोदा की विकलता तीव्र से तीव्रतर हो रही है।

तरल मोती से नयन भरे
मानस से ले उठे स्नेह-घन कसक विद्यु-पुलकों के हिमकन
सुधि स्वाती की छाँह पलक की सीपी में उतरे। महादेवी

यहाँ का रूपकालंकार अश्रुओं को वह रूप देता है जिससे हृदय की विह्वलता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है।

लिखकर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा!
व्योम-सिन्धु सखि देख, तारक बुद्बुद दे रहा।

दिनान्त में पश्चिम की ओर ललाई दौड़ जाती है और फिर आकाश

में तारे दिखाई पड़ते हैं। दिन तो ललाई रूप में लोहित लेख लिख गया जो अंगार-सा दाहक है। यह ऊर्मिला की मार्मिक पीड़ा का द्योतन करता है। यहाँ करुण में रूपक भावोत्कर्ष का सहायक है।

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला भौन में जो पड़ा हो,
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू।
यों देना ऐ पवन बतला फूल सी एक बाला,
म्लाना हो हो कमल पग को चूमना चाहती है। हरिऔध

यहाँ 'फूल-सी एक बाला' के उपमा अलंकार ने प्रेम-परायण हृदय की उत्कण्ठा के भाव को बड़े ही मनोरम रूप में व्यंजित ही नहीं किया है, उसको उत्कृष्ट भी बना दिया है।

२—(क) वस्तुओं के रूप का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदु अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग। प्रसाद

इसमें 'श्रद्धा' की रूप-ज्वाला उपमा अलंकार से और भी भभक उठी है।

लता भवन ते प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ। तुलसी

लता-भवन से प्रगट होते हुए दोनों भाइयों पर मेघ-पटल से निकलते हुए दो चन्द्रमाओं की उत्प्रेक्षा की गयी है। यह अलंकार प्रस्तुत दृश्यवस्तु के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है।

सब ने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य-तुषारावृता यथा विधुलेखा।
बैठी थी अचल तथापि असंख्य-तरंगा,
अब वह सिंही थी हहा! गोमुखी गंगा। साकेत

विधवा रानी तुषारावृत विधुलेखा-सी धुँधली पड़ गयी थी। कहाँ वह सिंही थी और अब वहाँ गोमुखी गंगा!

यहाँ का रूपक-गर्भित उपमा अलंकार रानी की दशा के चित्रण में ऐसा सहायक हुआ है कि भाव उत्कृष्ट ही नहीं सजीव हो उठा है।

धूप और छाया वहाँ खेलती हैं हँसती,
सत्य और माया मानो मुदित हृदय से
खेले जनमानस में धूपछाँह बनके। वियोगी

धूप और छाया के लिये सत्य और माया यथायोग्य प्रति-रूप हैं। माया का प्रभाव जब बढ़ता है तब अन्धकार छा जाता है और सत्य का प्रकाश होते ही माया का आवरण हट जाता है। यहाँ के उत्प्रेक्षालंकार ने, हवा से हिलती पत्तियों के कारण कभी छाया का तो कभी प्रकाश का जो आविर्भाव होता है, उसके रूप को ऊपर उठा दिया है।

(ख) गुणानुभव को उत्कृष्ट बनानेवाले अलंकार—

सुख भोग खोजने आते सब आये तुम करने सत्य खोज।
जग की मिट्टी के पुतले जन तुम आत्मा के मन के मनोज। पंत

यहाँ का व्यतिरेक अलंकार महात्माजी के अलौकिक गुणों का अनुभव कराने में बड़ा ही सहायक है।

अयोध्या के अजिर को व्योम जानो,
उदित जिसमें हुए सुरवैद्य मानो।
कमल दल से बिछाते भूमितल में,
गये दोनों विमाता के महल में। साकेत

दशरथजी की दुःख-दशा दूर करने में राम ही एकमात्र सहायक हैं, इसको सुर-वैद्य की उत्प्रेक्षा पुष्ट करती है और कमल-दल की उपमा राम-लक्ष्मण के चरण-कमल की कोमलता, सुन्दरता तथा अरुणिमा के अनुभव को तीव्र बनाती है।

संत हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पै कहा न जाना।
निज परिताप द्रवै नवनीता, पर-दुख द्रवै सुसंत पुनीता। तुलसी

यहाँ का व्यतिरेकालंकार सुसंत को पृथक् करके उनके गुणों का अनुभव तीव्रता के साथ करा रहा है।

ओ चिन्ता की पहली रेखा अरे विश्व वन की व्याली।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कम्प-सी मतवाली।
हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल लेखा। प्रसाद

इसके रूपक के रूप में अप्रस्तुत-योजना चिन्ता की प्रारम्भिक अवस्था की भीषणता का अनुभव कराने में अत्यन्त सहायक है।

(ग) क्रिया के अनुभव को तीव्र करने में सहायक अलंकार—

उषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित काल-रात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई।

यहाँ के रूपक और उपमा ऊषा की तीव्रता का अनुभव कराने में सहायक हैं। सुनहरे तीरों के सामने भला कालरात्रि की बिसात ही क्या, भागकर छिप ही तो गयी।

ऊर्मिला भी कुछ लजा कर हँस पड़ी,
वह हँसी थी मोतियों की-सी लड़ी।
× × ×
दम्पती चौंके, पवन मण्डल हिला,
चंचला-सी छिटक छूटी ऊर्मिला। गुप्तजी

मोतियों की लड़ी-सी जो उपमा है वह हँसने की क्रिया को जैसे तीव्रता प्रदान करती है वैसे ही उज्ज्वलता, दिव्यता और सुन्दरता की अनुभूति की भी वृद्धि करती है।

लक्ष्मण के क्रोड़ से ऊर्मिला के छिटक छूटने की क्रिया में जो तीव्रता है उसको भी चञ्चला की उपमा तीव्रतर कर देती है।

कुछ खुले मुख की सुषमामयी, यह हँसी जननी मनरंजिनी।
लसित यों मुखमंडल पै रही, विकच पंकज ऊपर ज्यों कला। उपा०

यहाँ की उपमा मुख-सौन्दर्य को तीव्र कर रही है।

बाल रजनी-सी अलक थी डोलती,
भ्रमित सी शशि के वदन के बीच में।
अचल रेखांकित कभी थी कर रही,
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में। पन्त

यहाँ अलक के डोलने की क्रिया को रेखाङ्कित की उत्प्रेक्षा काव्यसम्पत्ति के साथ अत्यन्त तीव्र कर रही है।

कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोंहि राम। तुलसी

पूर्वार्द्ध की दोनो उपमायें राम के प्रिय लगने के अनुभव को तीव्र बना रही हैं।

जहाँ अलंकार इन कार्यों को करने में समर्थ हो वहीं उनकी सार्थकता है। स्वभावतः रचना में जहाँ अलंकार फूट पड़ते हैं वहाँ उनका सौन्दर्य निखर आता है और जहाँ उनमें कृत्रिमता आयी वहाँ वे अपना स्वारस्य खो देते हैं।

आठवाँ रंग—अलंकार के रूप

अधिकतर अलंकार सादृश्यमूलक होते हैं। यह सादृश्य दो प्रकार का होता है। एक सदृश शब्दों वा सदृश वाक्यों का होता है। इनको लेकर जो अलंकार-योजना की जाती है वह हमारे हृदय को छूती नहीं। यह केवल चमत्कार पैदा करके पाठकों और श्रोताओं को चमत्कृत कर देती है। इससे हमें जो आनन्द होता है वह क्षणिक है। काव्य में इसका उतना महत्त्व नहीं है। जैसे,

जिसकी समानता किसी ने कभी पाई नहीं,
पाई के नहीं हैं अब वे ही लाल माई के।

इसमें 'पाई' का अनुप्रास है जिससे एक का अर्थ पाना और दूसरे का अर्थ पैसा है। इसमें शब्द का अनुप्रास है।

राम हृदय जाके बसैं विपति सुमंगल ताहि।
राम हृदय जाके नहीं विपति सुमंगल ताहि।

इसमें वाक्यों का यमक है। अन्वय से अर्थ भिन्न हो जाता है।

दूसरा स्वरूप का सादृश्य होता है। यह भी काव्योपयुक्त नहीं कहा जा सकता। काव्य में उसी सादृश्य का महत्त्व है जो भावों को उत्तेजना देता है, उसमें तीव्रता लाता है। इस शुष्क स्वरूप-बोध में भावों की यदि प्राणप्रतिष्ठा हो जाय तो उसकी भी महत्ता कम नहीं होती।

जन्म, मृत्यु और जन्मान्तर से जकड़ा हुआ और अनेक परिवर्त्तनों का महापात्र आत्मा भी निःसंग आकाश के समान ही निर्विकार है। इस स्वरूप-बोध के लिये यह कैसा सरस वर्णन है।

वक्ष पर जिसके जल उडुगन बुझा देते असंख्य जीवन,
कनक और नीलम यानों पर दौड़ते जिस पर निशि-बासर।
पिघल गिरि से विशाल बादल न कर सकते जिसको चंचल,
तड़ित की ज्वाला घन गर्जन जगा पाते न एक कंपन,
उसी नभ सा क्या वह अविकार और परिवर्तन का आधार।

—महादेवी

एक तीसरे प्रकार का साम्य साधर्म्य का अर्थात् गुण या क्रिया की समानता का माना गया है। रूप या आकार की समानता और साधर्म्य की समानता के अंतरंग में एक प्रभाव-साम्य भी छिपा रहता है। प्रभाव-

साम्य पर ध्यान देकर की गयी कविता का महत्त्व बढ़ जाता है। वह पाठकों को अत्यन्त प्रभावित करती है। जैसे—

करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं घर्षित हुए,
तब विस्फुरित होते हुए भुजदंड यों दर्शित हुए।
दो पद्म-शुण्डों में लिये दो शुण्ड वाला गज कहाँ,
मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले उपमा कहाँ। गुप्तजी

इसमें जो सादृश्य है वह आकार का है। इसके भीतर यह प्रभाव भी दर्शित है कि शुण्ड-समान ही भुजदण्ड भी प्रचण्ड हैं और करतल अरुण और कोमल हैं।

जिस पर पाले का एक पर्त सा छाया,
हत जिसकी पंकज पंक्ति अचल सी काया,
उस सरसी सी आभरण-रहित सित-वसना,
सिहरे प्रभु माँ को देख हुई जड़ रसना। गुप्तजी

इसमें कौशल्या के खिन्नावेश का चित्रण है। इसमें सादृश्य की योजना बड़ी बारीकी से की गयी है जो हृदय पर असर करती है।

नवप्रभा-परमोज्ज्वल लीक सी गतिमती कुटिला फणिनी समा
दमकती दुरती घन अंक में विपुल केलि कला-खनि दामिनी।

—हरिऔध

फणिनी—सर्पिणी और दामिनी दोनों का धर्म कुटिला गति है और इन दोनों का आतंक एक-सा प्रभावपूर्ण है।

विमाता बन गयी आँधी भयावह,
हुआ चंचल न फिर भी श्यामघन वह।
पिता को देख तापित भूमितल सा,
बरसने लग गया वह वाक्य जल सा। गुप्तजी

यहाँ अलंकार की योजना साधर्म्य के बल पर ही की गयी है। महाराज दशरथ के लिये इसका प्रभाव भी असाधारण है।

जिस उपमेय के लिये उपमान या प्रकृत के लिये अप्रकृत अथवा अप्रस्तुत के लिये प्रस्तुत की योजना की जाय उसमें सादृश्य का होना आवश्यक है। सादृश्य ही नहीं, यह भी देखना आवश्यक है कि जिस वस्तु, व्यापार और गुण के सदृश जो वस्तु व्यापार और गुण लाया जाता

है वह उस भाव के अनुकूल है कि नहीं। उसमें कवि जैसा रसात्मक अनुभव करे वैसा ही श्रोता भी भावों की रसात्मक अनुभूति करे। अप्रस्तुत भी उसी प्रकार भावों का उत्तेजक हो जैसा कि प्रस्तुत।

सखि! भिखारिणी सी तुम पथ पर फैलाकर अपना अंचल
सूखे पत्ते ही को पा क्या प्रमुदित रहती हो प्रतिपल? पंत

भिखारिणी जैसे रूखा-सूखा पाकर ही सदा प्रसन्न रहती है वैसे ही सूखे पत्ते पाकर ही छाया भी क्या प्रमुदित रहती है! यहाँ का सादृश्य एक-सा भावोत्तेजक है। आधुनिक कवि प्रभाव-साम्य के समक्ष सादृश्य और साधर्म्य की अधिकतर उपेक्षा करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्रभाव-साम्य को लेकर की गयी अप्रस्तुतयोजना हृदयग्राही होती है। एक-दो उदाहरण लें—

जल उठा स्नेह दीपक सा नवनीत हृदय था मेरा
अब शेष धूमरेखा से चित्रित कर रहा अँधेरा। प्रसाद

[धूम-रेखा = धूँधली स्मृति, अँधेरा = हृदय का अन्धकार] अभिप्राय यह कि मेरा हृदय मक्खन के समान स्निग्ध था जिससे प्रिय का अनुराग दीपक-सा जल उठा। अब प्रिय के वियोग में वह हृदय अन्धकारमय हो गया है। केवल धुँधली पुरानी स्मृतियाँ ही रह गयी हैं, जो उसी प्रकार बल खाती हुई उठ रही हैं जैसे बुझे हुए दीपक की धूमरेखा बल खाती हुई उठती है।

यहाँ साम्य का आधार बहुत ही कम है। केवल प्रभाव-साम्य के नाम मात्र का संकेत पाकर अप्रस्तुत की योजना कर दी गयी है।

सुरीले ढीले अधरों बीच अधूरा उसका लचका गान।
विकच बचपन को मनको खींच उचित बन जाता था उपमान।
—पंत

[इसमें कहा गया है कि उस बालिका का गान ही बाल्यावस्था और उसके भोले मन का उपमान बन जाता था। अर्थात् वह गान स्वतः शैशव और उसकी उमंग ही था। इसमें उपमान और उपमेय के बीच व्यंग्य-व्यञ्जक भाव का ही सम्बन्ध है। रूपसाम्य कुछ भी नहीं। शुक्लजी] यह अप्रस्तुतयोजना के नये ढंग का उदाहरण है।

द्वितीय रूप

अप्रस्तुतयोजना की भाषा

पहला रंग—भाषा

अप्रस्तुतयोजना का मूल मंत्र है भाषा। भाषा वह साधन है जिससे हम अपने मन का भाव प्रकाशित करते हैं। भावाभिव्यक्ति के चित्र, संगीत, नृत्य, शिल्प आदि ललित कलायें भी साधन हैं पर भाषा की समकक्षता नहीं कर सकतीं; क्योंकि भाषा के द्वारा ही बोलकर या लिखकर विचार के रूप में या अनुभूति के रूप में दूसरे को प्रशस्त रूप से अपने भावों को अवगत कराते हैं। अतः भाषा की शक्ति अपरिमित है।

भाषा के सम्बन्ध में मनुष्य इतना दीन-हीन है कि हृदय को मथकर उठनेवाले भावों को प्रकाशित करने में सदा ही असमर्थ रहा है। क्या अन्तर और क्या बाह्य, कोई-कोई ऐसा भाव वा वस्तु होती है जिसका प्रकाशन वा रहस्योद्घाटन सहज नहीं होता। इस अक्षमता की पूर्त्ति के लिये ही इंगित-आभास आदि सामने आते हैं।

अब भी ऐसे अनेक देश हैं जहाँ संकेतों ही से अधिक काम चलता है। कहीं-कहीं तो लिपियाँ भी नहीं हैं। जहाँ कहीं हैं भी वहाँ भावाभिव्यक्ति में सर्वथा असमर्थ हैं। ऐसे स्थानों की भाषा व्यवहार के लिये भी अपर्याप्त है। साहित्य-सृष्टि की बात तो बहुत दूर की है। किन्तु सभ्य देशों ने अपनी-अपनी भाषा को ऐसी समृद्ध और विशद बना लिया है कि वह अन्तर के सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा जटिल से जटिल भावों को व्यक्त करने में समर्थ बनती जा रही है।

देश और जाति की भिन्नता से भाषा भी भिन्न होती है। पर पास-पास की जातियों की भाषाओं में संस्कारवश एक प्रकार का साम्य भी रहता है। किन्तु उसके व्यवहार में भिन्नता पायी जाती है। बँगला में भाव (भाब) का अर्थ प्रेम, प्रीति, सौहार्द लिया जाता है। जैसे, 'तार संगे आमार भाब आछे'—

उससे मेरी मैत्री है। बंगाली चाय ही नहीं खाते, सिगरेट भी खाते हैं। पर हम हिन्दी में ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते।

बोले पिक हृदय कसक खोले गुल के मजार बुलबुल बोले।
तुम सुनो न अफसाना बेगाना इस दुखिया जरा के भोले। केशरी

ऐसी फारसी-अरबी से लदी भाषा जैसे हिन्दी भाषा की स्वाभाविकता की बाधिका होती है वैसे ही

रूपोद्यानप्रफुल्लप्राय कलिका राकेन्दुबिम्बानना।

जैसी संस्कृत शब्दों से भारी-भरकम भाषा भी हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं कही जा सकती।

भावप्रकाशक वा विचारबोधक भाषा का समुचितार्थद्योतक, प्रभावोत्पादक, ओजोवर्द्धक, सहज-सुन्दर, स्वाभाविक, शुद्ध, परिष्कृत तथा लेखन-शैली के अनुकूल होना चाहिये।

दूसरा रंग—खड़ी बोली

प्राचीन आचार्यों ने काव्य-साहित्य में जिस दृष्टि से भाषा का विचार किया वह अब पुराना पड़ गया। उन्होंने 'ओजः प्रसादो माधुर्यम्' का ही यथेष्ट ध्यान रक्खा और तदनुसार ही रचना की। कविता के शब्द कैसे होने चाहिये, इस पर पृथक् रूप से यद्यपि विचार-विवेचन नहीं मिलता तथापि प्राचीनों के शब्द भावव्यंजक होते थे, उनकी शब्द-योजना हृदय को मुग्ध कर देने की प्रबल सामर्थ्य रखती थी। एक श्लोक है—

निजानपि गजान् भोजं ददानं प्रेक्ष्य पार्वती।
गजेन्द्रवदनं पुत्रं रक्षत्यद्य पुनः पुनः॥

पद्माकर ने इसके उत्तरार्द्ध का ऐसा सुन्दर अनुवाद किया है जिससे प्रकट है कि ब्रजभाषा भावाभिव्यंजन में पूरी समर्थ है।

याही डर गिरिजा गजानन को गोय रही
गिरिते, गरेते निज गोद ते उतारै नाहिं।

इसमें 'गजेन्द्रवदनं' पद बड़ा मार्मिक है। इसके स्थान पर गणेश का वाचक शब्दान्तर रख दिया जाय तो इसका भाव ही चौपट हो जायगा।

कालिदास ने अपने काव्य-नाटकों में अपने भावानुरूप शब्दों के प्रयोगों से ऐसा सजीव स्वरूपाधायक वर्णन किया है कि उससे कलाकार अपनी तूलिका

से रंग भर दे तो अनेकों अमूल्य चित्र प्रस्तुत हो जाय। इनकी ओर द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में चित्रकारों के चित्त आकर्षित करने की चेष्टा भी की थी।

हिन्दी के प्राचीन कवियों ने ऐसी भाषा को पसंद किया कि जिसमें लोच-लचक हो और सुन्दरता के साथ थोड़े शब्दों में पाठकों को आह्लादित करने की सामर्थ्य हो। नाना प्रकार के भावों को अभिव्यंजित करनेवाली भाषा ही कविता के उपयुक्त हो सकती है। भाषा में हृदय को द्रवित करने का गुण होना भी आवश्यक है। ऐसी भाषा व्रजभाषा ही समझी गयी और उसी में कविता होने लगी। पर दुःख के साथ कहना पड़ता है कि बहुत-से कवियों ने शब्दों को तोड़-मरोड़कर उसके रूप को बिगाड़ दिया। वे भावानुकूलता को भुलाकर शब्दों की कलाबाजियाँ दिखलाने लग गये। पर घनानन्द, बिहारी आदि कई कवियों ने शब्दों के साथ मनमानी नहीं की। फिर भी प्राचीन कवियों को भावानुकूल भाषा के प्रयोग में कमाल हासिल था। मतिराम की एक सवैया लीजिये—

दोऊ अनंद सो आँगन माँझ विराजे असाढ़ की साँझ सोहाइ।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाइ॥
आयो उन्हें मन में हँसी कोपि तिया सुरचाप सी भौंहिं चढ़ाइ।
आँखिन ते गिरे आँसू के बूँद सुहास गयो उड़ि हँस की नाईं।

कवि ने वर्षा-वर्णन की विशेषताओं को लेकर संकोच, अश्रुपात और हंस-विलोप के भावों को व्यक्त किया है। वक्र सुरचाप की उपमा, हंसों का तिरोधान और बूँदों का गिरना बरसात की ही विशेषतायें हैं। आँसू भरे नेत्र और हासविहीन मुख नायिका का एक कारुणिक चित्र अंकित कर देते हैं। पहले क्रोध, पुनः अश्रुपात नायिका की विवशता व्यंजित करते हैं। मतिराम की ही इस उक्ति

ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि
त्यों-त्यों खरी निखरैसी निकाई

से जो भाव-समुद्र लहरा उठता है वह अपनी सीमा का भी उल्लंघन कर जाता है।

यह सब कुछ होने पर भी व्रजभाषा की तूती आगे बोलने में असमर्थ-सी होने लगी। खड़ी बोली ने उसका गला दबाना शुरू कर दिया। यह होना आवश्यक था। लिखने-बोलने की भाषा का और कविता की भाषा का भिन्न-भिन्न होना अस्वाभाविक-सा जान पड़ा। अन्यान्य देशी भाषाओं में ऐसी बात

नहीं थी। सहृदयों ने खड़ी बोली में कविता करना आरंभ किया। युग का प्रभाव पड़ा। पहले उसमें इतिवृत्तात्मक कविताओं की भरमार रही पर बीस-पचीस बरसों के भीतर वह सज-सँवरकर ऐसी हृदयाकर्षक हो गयी कि अब व्रजभाषा फूटी आँखों भी न सुहाती। खड़ी बोली अब राष्ट्रभाषा है।

तीसरा रंग—भाषा की अभिव्यञ्जना

मनुष्यमात्र विचारों और भावों का केन्द्र है। किसी में विचार की और किसी में भाव की अधिकता रहती है। किसी-किसी में दोनों समान भाव से रहते हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह उसके विचारों और भावों से अपने को बँधा हुआ पाता है।

मनुष्य की प्रधानतः दो मूल मनोवृत्तियाँ हैं—अनुकरण वा सहानुभूति और अभिव्यंजना। पहली मनुष्य में विचार और भाव उपजाती है और दूसरी उनको एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाती है। अर्थात् एक के मस्तिष्क और हृदय की बातों को दूसरे के मस्तिष्क और हृदय तक पहुँचाने का काम करती है। इसे यों भी कह सकते हैं कि काव्य में प्रतिबिंबित मानवी मनोवृत्ति का प्रतिबिंब उस काव्य पढ़नेवाले पाठकों के हृदयों पर पड़ता है।

आत्माभिव्यञ्जन की अभिलाषा पूरी करने के लिये ही भाषा का आविर्भाव हुआ; क्योंकि समाज में अपने विचारों और भावों के आदान-प्रदान के लिये इसकी आवश्यकता थी। वह प्रारंभिक भाषा समय की गति से परिवर्धित और परिमार्जित होती गयी। शास्त्र से भाषा का संस्कार हुआ और विचार परिष्कृत रूप में प्रकाशित होने लगे। किन्तु इससे भावों की अभिव्यंजना संभव न हो सकी। क्योंकि, वह शब्दों और वाक्यों का शुद्धाशुद्ध ज्ञान कराकर अपने कर्तव्य को समाप्त समझ लेता है। भाषा का एक दूसरा पक्ष भी होता है वह है भावपक्ष। इसका सम्बन्ध हृदय की कोमल वृत्ति से है।

मनुष्य प्रारंभिक अवस्था से ही सौन्दर्य की कामना करता आ रहा है। वह अपने को सौन्दर्य के वातावरण में ही देखना चाहता है। वह ऐसा ही संस्कार लेकर अवतीर्ण होता है। वह सौन्दर्य से अपने को लुब्ध-मुग्ध करने को विवश रहता है। इस सौन्दर्य की आकांक्षा का कहीं अन्त नहीं। इस सौन्दर्य-पिपासा ने भाषा को भी सुन्दर बनाने का सत्प्रयत्न आरंभ किया। यह काम कला को सौंपा गया। कला ही भावों का अभिव्यंजन सुन्दर ढंग से करती है, एक के हृदय से दूसरे हृदय तक पहुँचाती है। कला भाव की सेविका है।

अतः हम जब भाषा का विचार करते हैं तो दो बातें हमारे ध्यान में आती हैं। एक तो यह कि भाषा भावों के अभिव्यंजन में कितनी समर्थ हुई है और उसके प्रकाशन की भङ्गिमा कितनी सुन्दर है। किन्तु भाव को—मन के विकार को प्रकट करने में भाषा समर्थ नहीं होती। क्योंकि शब्दों के सांकेतिक अर्थ भावों की सूक्ष्मता, तरलता तथा मार्मिकता को व्यक्त करने में समर्थ नहीं होते। हम क्षण-क्षण परिवर्तनशील वस्तु-स्थिति वा मानसिक दशा को—सौंदर्य आदि की विकसित अवस्थाओं को तथा उनकी विशिष्टताओं को, जिस रूप में कहना चाहते हैं, नहीं कह पाते।

हृदय में उठनेवाले भावों को यथातथ रूप से व्यक्त करने के लिये, दूसरे तक पहुँचाकर अपनी ही सी अवस्था लाने के लिये अनेक साधनों की उद्भावनायें की गयी हैं। इनमें एक ओर शब्द की शक्तियाँ हैं जिनमें लक्षणा और व्यंजना मुख्य हैं। लक्षणा के ही फल हैं मुहावरे और लोकोक्तियाँ। भावों की अभिव्यञ्जना में लक्षणा की प्रबल शक्ति है। इससे अर्थ में चमत्कार-पूर्ण सौन्दर्य का विधान होता है। दूसरी ओर अलंकार है। सौन्दर्याधायक होने से ये भावव्यंजना को प्रेषणीय बना सकते हैं। भावों को प्रभावपूर्ण बनाकर प्रेषणीयता की क्षमता उत्पादन करनेवाला कलाकार ही होता है।

कलाकार भी जहाँ इन साधनों से भावाभिव्यक्ति में असमर्थ हो जाता है वहाँ वह अपनी अभिव्यक्ति की ओर संकेत मात्र करके चुप हो जाता है। उसके पास भाव-प्रकाशन में समर्थ शब्द ढूँढ़े नहीं मिलते। तुलसीदासजी कहते हैं—

श्याम गौर किमु कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

इससे स्पष्ट है कि शब्द नेत्रों की सी देखने की शक्ति नहीं रखते, शब्दों में वह शक्ति नहीं जो देखने की अनुभूति रखती हो, देखने की भावना को भी अपने में भरकर कहने की सामर्थ्य रखते हों। केशवदासजी भी कहते हैं—

पावन वास सदा ऋषि को सुख को बरसै।
को बरनै कवि ताहि विलोकत जी हरसै॥

यहाँ भी कवि भावाभिव्यक्ति में अपने को सर्वथा असमर्थ पाता है।

फिर भी सहृदय कलाकारों की ऐसी भावानुभूति की अभिव्यक्ति में—वर्णन करने में, मौन धारण वर्णनीय की उत्कृष्टता बढ़ाने की एक कला ही है।

चौथा रंग—काव्य की भाषा

काव्य में सरस, कोमल, मधुर और मंजुल शब्द हों जो साथ ही सुबोध, सार्थक, स्वाभाविक और उपयुक्त हों। वाक्य सुगठित, सुसम्बद्ध, भावव्यंजक, सरल और स्पष्ट हों। शैली सुचारु, प्रभावोत्पादक और सामंजस्य-पूर्ण हो। सम्मिलित रूप में भाषा चित्ताकर्षक हो, हृदयद्रावक हो, भावप्रकाशक हो, विचारबोधक हो, धारावाहिक हो, रागात्मक हो, लोच-लचकवाली हो, चित्रात्मक हो, और ऐसी हो कि संवेदन के स्वरूप को मूर्त तथा ग्राह्य रूप में उपस्थित कर सके तथा भावप्रवणता से रागात्मक वृत्तियों को उच्छ्वसित कर सके। सबसे बड़ी बात यह कि कवि के उच्छ्वसित भावों को भली भाँति प्रकट करने में वह समर्थ हो। ऐसी ही भाषा काव्योपयुक्त होती है।

यों तो उच्चारण किये गये शब्दमात्र का कुछ न कुछ अर्थ होता ही है, किन्तु योग्यता आदि के न रहने से वह निरर्थक ही है। जिस शब्दार्थ में प्रवृत्ति-निवृत्ति का तात्पर्य नहीं या रागात्मकता नहीं, ऐसे शब्द अर्थहीन ही समझे जाते हैं। इसी प्रकार अर्थ से समझी जानेवाली वस्तुयें सर्वदा शब्दाश्रय ही नहीं रहतीं। कहने का अभिप्राय यह कि वस्तुबोधक शब्दों के उच्चारण-श्रवण के बिना भी वस्तुओं के दर्शनमात्र से भी उनका ज्ञान होता है। बहुत-से जो शब्दार्थहीन भाव समय-समय पर मूक रहकर भी और विशिष्ट मुद्राओं से भी प्रकाशित किये जाते हैं, काव्य के संयोजक नहीं हो सकते। अतः काव्य में शब्द और अर्थ का सम्मिलित रूप में रहना आवश्यक है। भामह का 'सहितौ' शब्द इसका द्योतक है[1]।

दूसरी बात यह है कि कवि जैसे सुन्दर शब्दों का चयन करता है वैसे ही उसके अर्थ को भी सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है। काव्य में ढले हुए शब्द और अभिलषित अर्थ कवि के अपने होते हैं। कल्पनाप्रसूत होने से वर्णनीय पदार्थ का वर्णन कवि का अपना हो जाता है। काव्य-रचना में वह शब्द और अर्थ दोनों की समान भाव से अपेक्षा रखता है। उसके अपनाये शब्द और अपनाये अर्थ साथी बन जाते हैं और उनमें रमणीयता आ जाती है। सारांश यह कि शब्द और अर्थ दोनों कवि-कृति में सम्मिलित हैं।

यदि शब्द उनके भावों को व्यक्त नहीं करते तो उनका अर्थ-संकेत दूषित है, और अर्थ-संकेत के उपयुक्त शब्द न हुए तो शब्द दूषित हैं। अर्थ शब्द का मर्मोद्घाटन करता है और शब्द मार्मिक होता है। काव्य में शब्द और

---

१ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।

अर्थ मिलकर एक हो जाते हैं। कहना चाहिये कि भाषा-भावना की एकात्मकता कविता के लिये अपेक्षित है। क्योंकि कवि की भावना को शब्द और अर्थ दोनों मिलकर व्यक्त करने में समर्थ होते हैं। 'सहितौ' के इस तत्त्व को न समझनेवाले अविवेकी समालोचक जो यह कहता है कि "यदि यह कहा जाय कि काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ साथ-साथ रहते हैं" तो वह ऐसा ही है जैसे यह कहना कि मनुष्य वह है जिसमें नाक, कान, मुँह, हाथ तथा प्राण साथ-साथ रहते हैं। वह वक्ता की अयोग्यता ही सूचित करता है। रुद्रट तो सहित शब्दार्थ को केवल काव्य नहीं मानते, बल्कि शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य मानते[१] हैं। एक पंक्ति देखिये—

प्रात ही तो कहलाथी मात पयोधर बने उरोज उदार। पंत

प्रातःकाल नवजीवन का, नवशक्ति-संचार का समय है। यह शब्द यह द्योतन करता है कि नायिका के नवजीवन का आरंभ ही हुआ था, उसमें उल्लास भर ही रहा था, उसके आशाकुसुम खिल ही रहे थे। यह भी सूचित होता है कि वह प्रथम-प्रथम पुत्रवती हुई थी। साथ ही समय की निकटता भी—अभी-अभी की बात भी। यह कवि का अपना शब्द है और ये अपनाये अर्थ भी। भोर या अन्य शब्द में न तो यह सौन्दर्य है और न यह सामर्थ्य।

पयोधर शब्द भी ऐसा ही है। इसके स्थान पर 'क्षीरधर' या 'दुग्धधर' शब्द रक्खा जाय तो मोतियों की जगह कौड़ियाँ गूँथना होगा। पय का अर्थ जीवन भी है और अमृत भी। शिशु को इसी की आवश्यकता है। दूध में जीवनी शक्ति नहीं तो वह लाभदायक नहीं। पय इसको सूचित करता है। पयोधर का अर्थ मेघ भी होता है। उरोज का पयोधर बनना दूध की अधिकता सूचित करता है; दूध जैसे उफना पड़ता हो और गुप्त जी के 'आँचल में है दूध' के लक्ष्यार्थ को अभिधेयार्थ बना रहा है। पयोधर को स्तन कहते हैं, और उरोज भी। यहाँ यह अर्थ ही पुनरुक्ति को पुनरुक्तवदाभास बना रहा है।

उदार भी ऐसा ही शब्द है। अब क्या कोई सहृदय सहित शब्दार्थ को काव्य कहने में कभी अनुदार हो सकता है?

साधारणतः अनेक शब्दों से अर्थ प्रकाश किया जा सकता है। पर अनेक शब्दों के रहते हुए भी जो शब्द ठीक विवक्षित अर्थ को प्रकाशित करता है वही वाचक शब्द है। अर्थ वही है जो स्वयं सुन्दर हो और सहृदय

१ ननु शब्दार्थौ काव्यम्।

का हृदयाह्लादक हो[1]। रुद्रट भी कहते हैं कि काव्य में अनेक प्रकार के अर्थवान शब्द होते हैं[2]।

शब्द अनन्त हैं। एक शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। किन्तु सब एक-से नहीं होते। समानार्थी शब्दों में भी अर्थ की विभिन्नता होती है। प्रायः सबकी प्रकृति भिन्न होती है। एक-एक शब्द के भिन्न-भिन्न चित्र अंकित होते हैं। उनसे भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति होती है। यही नहीं, उनसे एक प्रकार की ध्वनि निकलती है। जैसे, वायु, अनिल, समीर, प्रभंजन आदि। इनपर ध्यान रखने से भाषा और भाव का सामंजस्य होगा। उनकी एकतानता संभव होगी। पंतजी कहते हैं—

"प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र हृत्स्पन्दन, स्वतंत्र अंगभंगी और स्वाभाविक साँसें हैं और यह भी कि कविता के लिये चित्र-भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिये, जो बोलते हों, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण झलक पड़े।"

पाँचवाँ रंग—वर्णविन्यास

वर्णविन्यास से अभिप्राय यह है कि काव्य-रचना में ऐसे शब्द हों जिनमें सुन्दर वर्ण हों। उनमें ऐसे वर्णविन्यास हों जिनमें कोमलता किलकारियाँ भरती हो, उनसे माधुर्य झरता हो और रस छलका पड़ता हो।

प्रणय की पतली अँगुलियाँ क्यों किसी
गान से विधि ने गढ़ीं? जो हृदय की
याद आते ही विकल संगीत में
बदल देती हैं भुलाकर, मुग्ध कर। पंत

ऐसी मधुर कोमल कान्त पदावली की योजना ही वर्णविन्यास की कला है।

सुन्दर शब्द-मैत्री के लिये खड़ी बोली के सहृदय कवियों ने कहीं-कहीं अपनी रचना में ब्रजभाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है जिससे उनकी श्रुति-सुखदायकता बढ़ गयी है। जैसे,

आज छाया चहुँ दिशि चुपचाप
मृदुल मुकुलों का मौनालाप।

---

१ शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकेऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पन्दसुन्दरः॥ वक्रोक्तिजीवि॥

२ शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधः।

बैठो' कहने से वाच्यार्थ होता है आधी धूप और आधी छाया में बैठना।

धूप और छाया खेलती हैं जहाँ हँसती
सत्य और माया मानो मुदित हृदय से
खेले जन मानस में धूपछाँह बनके। वियोगी

धूप और छाया के लिये सत्य और माया यथायोग्य प्रतीक हैं। माया का प्रभाव बढ़ने से अन्धकार छा जाता है और सत्य का प्रकाश होते ही माया का आवरण हट जाता है। सत्यान्वेषी के सामने प्रकाशपुंज है और माया के सामने भीषण अन्धकार। मानव मन माया के कारण सांसारिक विषयों में फँसा हुआ है। मानव जब ज्ञान के कारण ममता के बंधन को तोड़ना चाहता है तब सत्य का उदय होता है। धूप और छाया की भाँति सत्य और माया के उदय और अस्त होते हैं।

जीवन में धूपछाँह सुख-दुख के गले बाँह

यही अर्थ इस लोकोक्ति का भी होता है।

रामजी की माया कहीं धूप कहीं छाया।

यह ऐसी लोकोक्ति है कि कहीं रोना-धोना और कहीं गाना-बजाना सुनने पर मुँह से सहसा निकल ही पड़ती है।

धूपछाँह एक कपड़ा भी होता है जिसमें दो रंगों की चमक होती है। महादेवीजी ने धूपछाँह को इसी रूप में लिया है।

बुनते नव प्रवाल कुंजों में रजत श्याम तारों से जाली।

कहीं धूपछाँह को नया रूप देकर भी यही आशय लिया गया है

गंध गुंजित कुंजों में आज बँधे बाँहों में छायालोक।

इसको यह रूप भी दिया गया है—

छाया की आँखमिचौनी मेघों का मतवालापन।

धूपछाँह का यह कैसा वक्रोक्तिपूर्ण वर्णन है।

कहीं सहज तरुतले कुसुम शय्या बनी
ऊँघ रही है पड़ी जहाँ छाया घनी।
घुस धीरे से किरण लोल दल पुंज में
जगा रही है उसे हिलाकर कुंज में। गुप्तजी

आज 'बाल' का अर्थ बालक ही नहीं रह गया, बल्कि लघु, छोटा, हल्का, साधारण आदि भी है।

इन्दु विचुंवित बाल जलद सा मेरी आशा का अभिनय।

आतशबाजियों में एक फुलझड़ी होती है। उसमें आग लगाने से हल्की-फुल्की चिनगारियाँ निकलती हैं। उन्हें देखकर बच्चों को ही नहीं सयानों को भी प्रसन्नता होती है। सूर्य की किरणों से भी कभी-कभी ऐसी शोभा फूट पड़ती है। यह कवि से छिपा न रहा। इससे उसने भाव को एक रूप दे डाला।

फूलों की मीठी चितवन नभ की ये दीपावलियाँ।

पीले मुख पर सन्ध्या की किरणों की फुलझड़ियाँ॥ महादेवी

इस प्रकार कवियों ने शब्दों की तह में डुबकी लगायी है और उसके मर्म को समझा है।

सातवाँ रंग—शब्द-प्रयोग

काव्य-भाषा में शब्दों के प्रयोग दो रूपों में होते हैं। एक रूप है समस्त और दूसरा रूप है असमस्त अर्थात् समासयुक्त और समासहीन। संस्कृत भाषा के लिये समस्त शब्दों का प्रयोग बड़े ही सुन्दर, सुरुचिकर तथा स्वार्थद्योतक होते हैं। वर्णवृत्त भी समस्त शब्दों के लिये उपयुक्त होते हैं। हिन्दी के लिये यह शैली कठिन तो होती ही है, भावविस्तार के लिये भी अनुपयुक्त है। दोनों में अभिव्यक्ति की भिन्नता भी है। इससे संस्कृत की समस्त शैली हिन्दी के लिये हृदयग्राहिणी नहीं हो सकती।

चिकुरविसारणतिर्यङ्नतकंठी विमुखवृत्तिरपि बाला।
त्वामियमङ्गुलिकल्पितकचावकाशा विलोकयति॥

विहारी ने इसी भाव को यों व्यक्त किया है—

कंज नयनि मंजन किये बैठी व्यौरति बार।
कच अँगुरिन बिच दीठि दै चितवति नंदकुमार॥

इनमें 'चिकुरविसारण' = 'व्यौरति बार' तथा अंगुलिकल्पितकचावकाशा = 'कच अँगुरिन बिच दीठि दै' दोनों एक से हैं और दोनों की अभिव्यक्ति दोनों भाषाओं के उपयुक्त ही हुई है। समस्त शैली में संस्कृत का भाव ऐसे सुन्दर ढंग से व्यक्त नहीं होता। समस्त शैली का आश्रय लेने से इस भाव की दुर्दशा सी हो जाती जो इस पद्य में है—

केशपरिष्कृतिकार्य महँ लगी नहायी बाल।
कच-अङ्गुलि-अन्तर-निहित दृग से देखति लाल॥

समासयुक्त भाषा की पदावली प्रयास-साध्य प्रतीत होती है और भाव भाराक्रान्त हो जाता है। वृत्तविवश कवि लिखता है—

व्रज-धरा-जन-जीवन-यन्त्रिका विटप-वेलि-विनोदन-कारिणी।

इसमें शब्द ही शब्द हैं। इस शब्दशालिनी भाषा की स्वाभाविकता भी एक प्रकार से नष्ट हो गयी है। शब्दजाल में भाव भटक सा गया है। कवि की शब्द-पराधीनता भी झलकती है।

जहाँ सम्मिलित वा समासयुक्त भाषा नहीं रहती वहाँ भाव को व्यक्त होने की स्वतन्त्रता रहती है; भाषा और भाव अन्योन्याश्रित हो जाते हैं। असमस्त भाषा में भाव के लेप से विश्लिष्ट पदावली की सन्धियाँ भी मिटकर एकाकार—संश्लिष्ट हो जाती हैं। असमस्त भाषा में जटिलता नहीं रहती, सौन्दर्य विकृत नहीं होता और स्वाभाविकता भी नष्ट होने से बच जाती है।

किस दिगंत रेखा में इतनी संचित कर सिसकी सी साँस।
यों समीर मिस हाँफ रही सी चली जा रही किसके पास॥ प्रसाद

नीरव रात्रि का यह वर्णन कितना चित्रमय, प्रशस्त और भावपूर्ण उतरा है कि भावुक कौतूहल से देखने लगता है। इसके पृथक्-पृथक् शब्द भाव की विभूति से संश्लिष्ट हो गये हैं।

कवि को जब भावात्मक भाषा का अभाव हो जाता है तब ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जो नवनिर्माणस्वरूप ही होते हैं। ये शब्द बड़े सुन्दर होते हैं और हृदय में घर कर लेते हैं। जैसे—

१ अरी शैलवाले (निर्झरी) नदान,
२ अरी वारि की परी (लहर) किशोर,
३ विटपवालिका (चिड़िया) पुलकित गान,
४ वह उड़ता दीपक निशीथ का (जुगुनू)
५ जिनमें बस उर का मधु बाल (भौंरा)
६ नयनों के शिशु (आँसू) नादान
७ धरती के ये बालक (किसान) हैं, आदि।

शब्द-निर्माण-कला में कोई सहज ही पंतजी की समता नहीं कर सकता। इन्हें इस कला में कमाल हासिल है।

कुछ ऐसे निर्मित शब्द पाठकों के सामने कठिनता उपस्थित कर देते हैं जिससे रसास्वाद में विघ्न पड़ जाता है। जैसे—

१ तम के सुन्दरतम रहस्य (तारे)
२ इन्द्रजालजननी (रात)
३ पावस के उड़ते फणिधर (बादल)
४ सर्ग के अग्रदूत (देवता) आदि

कवि कभी-कभी शब्दों को काव्य-भाषा के उपयुक्त बनाने के लिये उन्हें खराद डालता है और कभी-कभी उनका अंगभंग भी कर डालता है। इस विषय में कवियों की निरंकुशता बढ़ गयी है और यह यति, लय, भाव, और सुषमा के नाम पर किया जाता है।

१ तुम सुरनर मुनि इप्सित अप्सरि
२ यौवनमयि नित्य नवीन
३ नित बूड़ बूड़ रे भाविक
४ उमड़ पड़ा पावस परिप्रोत
५ हृदय मेरा तेरा आक्रीड़
६ मुक्त नभवेणी में सोभार
७ वह है वह नहीं अनिर्वच
८ पत्ते अपने सुलझाकर
९ कुसुमित सुभग सिंगार
१० जग के ज्योतित आँगन में

इनमें सिंगार से हरसिंगार का बोध होना कठिन है। ऐसे ही अनेकों शब्द है। इनमें पतले अक्षर के शब्द ऐसे ही हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांश स्थानों में ऐसे खरादे गये शब्द या हृदय के ताप में ढाले गये शब्द काव्य के शोभाधायक और भावोत्कर्षक सिद्ध हुए हैं, पर सर्वत्र नहीं।

जिंदगी के रेत पर
खाइं खड्ड टेकड़ियों से रहित
एक रस समतल सपाट सतह पर
घुटने घसीटते कढ़ीलते हैं काया को। अंचल

इसमें 'कढ़ीलते' की रचना उद्वेग पैदा कर देती है।

छायावादी कवियों ने व्यंजक तथा चित्रात्मक शब्दों के प्रयोगों से कविता कामिनी की कमनीयता बढ़ायी है।

आठवाँ रंग—वाक्य-योजना

शब्दों से वाक्य बनता है। शब्द के समान ही काव्य में वाक्य की भी महत्ता है। वाक्य कैसा होना चाहिये, इसका कोई निश्चित निर्देश नहीं किया जा सकता। केवल यही कहा जा सकता है कि अभीष्ट अर्थ जितनी पदावली से प्रकाशित किया जा सके, उतनी ही से किया जाय। यदि ऐसी वाक्य-रचना हो तो वह काव्य-कोटि में आ सकती[1] है।

वाक्य का योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त होना ही काव्य के लिये पर्याप्त नहीं है। उसकी पदावली इष्टार्थ-प्रकाशिका होनी चाहिये। इससे वाक्य-रचना की कठिनाई प्रत्यक्ष है! इष्ट अर्थ के अन्तर्गत ही रमणीयता, भावोद्बोधकता और प्रभावशालिता प्रच्छन्न रूप से बैठी हैं। दर्पणकार ने रसात्मक वाक्य को काव्य कहकर उसका जो रूप खड़ा किया है, वह भी इष्टार्थ के भीतर आ जाता है।

वाक्य-रचना में इष्टार्थव्यञ्जक शब्दों का प्रथम स्थान है। यदि वाक्य में यथार्थ या योग्य शब्द प्रयुक्त न हों तो कवि का भाव झलक नहीं पाता।

दिवस की आभा में साकार दिगंबर सहम रहा संसार। पंत

अर्थ है—दिन दहाड़े यह दृश्यमान जगत् अपने यथार्थ रूप में अपनी निर्लज्जता से संकुचित हो रहा है। यहाँ संसार सहम रहा है, इसके लिये उसको नंगा बनाने के लिये 'दिगंबर' ही उपयुक्त शब्द है। उसके लिये निर्वस्त्र या उल्लंग शब्द छन्द और अर्थ की पूर्ति के लिये पर्याप्त है। पर इससे न तो कवि का भाव ही स्पष्ट होगा और न तो सरसता का संचार, बल्कि यह 'रेशम की अँगिया में मूँज की बखिया' होगा।

विप्रन के भगत जगत के विदित बन्धु,
लेत सबही की सुधि ऐसे महादानिहैं।
पढ़े एक चटसार कही तुम कय बार,
लोचन अपार वै तुम्हें न पहचानिहैं।
एक दीनबंधु कृपासिन्धु फेरि गुरुबन्धु
तुम सम को दीनबन्धु जाहि निज जानिहैं।
नाम लेत चौगुनी, गये ते द्वार सौगुनी
देखत सहस्रगुनी प्रीति प्रभु मानिहैं।
—सुदामाचरित

---

१ संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। अग्निपुराण

यहाँ सुदामा की पत्नी की उक्ति में दीन सुदामा के लिये कृष्ण के दीनबन्धु, कृपासिंधु, गुरुबंधु कहना तथा प्रथम पंक्ति के विशेषण जैसे इष्टार्थ-व्यंजक हैं वैसे ही इष्टार्थसिद्धि के सहायक भी हैं।

वाक्य में पदस्थापन का दूसरा स्थान है। उपयुक्त पद यदि उपयुक्त स्थान पर न रक्खे जायँ तो वाक्य शिथिल तो होता ही है, उसकी प्रभावोत्पादकता वा प्रेषणीयता में न्यूनता भी आ जाती है। पद्य में पदों के स्थान-परिवर्तन की स्वतन्त्रता है, तथापि वैसा परिवर्तन, जिससे अर्थ का अनर्थ हो जाय या उसका स्वारस्व ही मिट जाय, काम्य नहीं है।

देखेगा यह वदन चंद्र फिर क्या बेचारा,
चूमेगा प्रणयोष्ण दीर्घ चुम्बन के द्वारा।

दूसरी पंक्ति में दो बार चुम्बन की बात कहने से कवि के भाव को दीर्घ और उष्ण शब्द भी प्रभावशाली न बना सके। चुम्बन में 'कथित' पद तो है ही, यथास्थान उसका प्रयोग भी नहीं है। यदि 'चूमेगा प्रणयोष्ण तृषित अधरों के द्वारा' कर दिया जाय तो इसके दोष दूर हो जायँ। अधर प्रणयोष्ण तो है ही। तृषित शब्द लालसाकुल अर्थ देकर सोने में सुगन्ध कर देगा। तृषित के स्थान पर 'रक्त' विशेषण भी अनुरक्त, रंजित, अरुण अर्थ देकर कुछ सजीव बना सकता है।

मेरे जीवन की एक प्यास होकर सिकता में एक बूंद

कविता का अभिप्राय एक सिकता से है पर अस्थान में एक के होने से अर्थभ्रम पैदा कर देता है। इससे सिकता के पूर्व ही एक होना चाहिये।

जो कुछ हो मैं न सम्हालूँगा इस मधुर भार को जीवन के। प्रसाद

यहाँ जीवन के मधुर भार को न लिखना क्रम-भंग ही नहीं, रंग-भंग भी कर देता है।

एक प्रकार का पद-स्थापन और भी होता है जो अविमृष्ट-विधेयांश दोष में शामिल हो जाता है। अर्थात् उसमें अभीष्ट अर्थ का अंश प्रधानता से प्रतीत नहीं होता। अप्रधान बनानेवाले समास आदि हैं। जैसे,

सब ने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्यतुषारावृता यथा विधुलेखा। गुप्तजी

यहाँ कवि ने चाहा है कि वैधव्य को तुषार का रूपक देकर और रानियों को कान्तिहीन दिखाकर उनके दुःख की पराकाष्ठा को ही प्रकट न करें बल्कि

यह भी सूचित करे कि राजा दशरथ अब इस लोक में नहीं रहे। जैसे वह एक ओर सफल रहा वैसे दूसरी ओर नहीं। विधुलेखा तो तुषारावृता हो सकती है पर वैधव्य के साथ इसका रूपक नहीं बँधता। विधुलेखा का वैधव्य से क्या सम्बन्ध! कवि चाहता है कि कुहरे से ढँकी धुँधली क्षीण चन्द्रकला जैसी रानी विवर्ण प्रतीत होती हैं, यह अर्थ हो; पर वैधव्य-तुषारावृता का समास अर्थ का गड़बड़-घोटाला कर देता है। यहाँ मेरी अयाचित सम्मति यह है कि 'यथा' के स्थान पर 'मलिन' शब्द रख दिया जाय तो सारा गोल-माल मिट जा सकता है। केवल उपमा के स्थान पर दृष्टान्त हो जायगा। इससे कोई भावान्तर नहीं हो सकता।

तीसरी बात ध्यान देने योग्य है, भ्रामक पदों का प्रयोग न होना। ऐसे पद रसभंग के कारण होते हैं।

देह दिनहु दिन दूबरि होई। घटत तेज बल मुख छवि सोई॥

साधारणतः सभी पाठक, जो प्रसंग, कविहृदय, भाव आदि में पैठने की सामर्थ्य नहीं रखते वे इसका यही अर्थ कर बैठेंगे कि 'देह दिन-दिन दुबली होती जाती है, बल घट रहा है और मुख की छवि मुरझा गई' है। यदि ऐसा अर्थ किया जाय तो भरत की तपस्या का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। तप से तेज बढ़ता है, घटता नहीं, देह भले ही दुबली हो जाय। मुख छवि फीकी नहीं पड़ती। यहाँ 'सोई' का अर्थ उतना भ्रामक नहीं क्योंकि इसका 'वही' अर्थ प्रसिद्ध है। फिर भी 'घटत तेज बल' ऐसा क्षण उपस्थित कर देता है कि 'सोई' का उक्त अर्थ ही पढ़नेवाला कर बैठेगा। किन्तु यहाँ इसका यह विपरीत अर्थ नहीं है। कवि का अभिप्राय यह है कि भरत का तेज बल घटत अर्थात् घटित होता जाता था। जैसे दिन-दिन देह दुबली होती जाती थी वैसे ही दिन-दिन तेज-बल दुगुना होता जाता था—बढ़ता जाता था और मुख-छवि वही ज्यों की त्यों थी। अप्रसिद्ध अर्थ में ऐसे शब्द-प्रयोग न होने चाहिये।

वाक्यरचना में चौथी बात ध्यान देने योग्य है कहावतों और मुहावरों का प्रयोग। ये वर्णनीय विषय के प्रभाव को बढ़ा देते हैं, उनमें चमत्कार पैदा कर देते हैं। जैसे,

१ हौं तो स्याम रँग में चोराय चित चोरा चोरी
बोरत तो बोर्‌यो पै निचोरत बनै नहीं।

२ मैं जमीन पर पाँव न धरती छिलते थे मखमल पर पैर।
आँखें बिछ जाती थीं पथ में मैं जब करने जाती सैर॥ भक्त

३ सीधे का मुख श्वान चाटते यह सिद्धान्त अटल है राम।
अन्यायी के साथ न्याय भी करना है कायर का काम॥

४ देख लो काँटे विना काँटा निकलता है नहीं।
क्रूर जन से सौम्य का कुछ काम चलता है नहीं॥ रा० च०

कहना नहीं होगा कि वाक्य में आये हुए 'मुहावरे' और 'लोकोक्तियाँ' काव्य को कितनी सम्पत्तिशाली बना रही हैं जिनका निर्देश छोटे-छोटे अक्षरों में है।

पन्त की उक्ति है—'काव्य के शब्द भी परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण एक दूसरे के बल से सशक्त रहते, अपनी संकीर्णता की झिल्ली तोड़ तितली की तरह भाव तथा राग के रंगीन पंखों में उड़ने लगते हैं।' इससे वाक्य में शब्दों के सम्बन्ध और उनसे वाक्यरचना की ही ध्वनि निकलती है। राजशेखर का कहना है कि जिस पाक से विद्वानों को गुण, अलंकार रीति, उक्ति, शब्द और अर्थ की रचनापरिपाटी आनन्द-दायक हो, वह वाक्य-पाक है, और वही मुझे अच्छा लगता है। जहाँ जो शब्द रखना आवश्यक है, वहीं उसका रखना 'पाक'[1] है।

नवाँ रंग—भाषा की भावग्राहकता

कवि एवं पाठक की अनुभूतियों के बीच सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करने में भाषा माध्यम का काम देती है। इससे जैसी-तैसी भाषा न होनी चाहिये। उपयुक्त भाषा न होने से समर्थ कवि भी अपनी भावाभिव्यक्ति में असफल ही रहेगा। कविता के लिये वही भाषा उपयुक्त हो सकती है जिसमें भाव-ग्राहकता की सामर्थ्य वर्तमान हो।

भाषा दो प्रकार से भाव ग्रहण करती है। एक तो भाषा में ही ऐसी शक्ति—योग्यता रहती है, जो स्वभावतः भावधारण में समर्थ होती है। ऐसी भाषा में कवि का हृदय खुला मिलता है और पाठक का हृदय सरलता से उसमें प्रवेश कर जाता है। उसमें प्राञ्जलता के साथ गतिशीलता भी रहती

---

१ गुणालंकाररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः।
स्वदते सुधियाँ येन वाक्यपाकः स माँ प्रति। काव्यमीमांसा

है। ऐसी भाषा भावग्राहिणी कही जा सकती है। दूसरे में भाषा का यह योग्यता नहीं रहती। वह स्वभावतः नहीं, विवशतावश किसी भाव को ग्रहण करने के लिये ठोक-पीटकर बनायी जाती-सी मालूम पड़ती है। उसका प्रवाह अवरुद्ध-सा ज्ञात होता है। वह लड़खड़ाती लाठी टेकती चलती हुई-सी प्रतीत होती है। ऐसी भाषा को भावबाहिनी की संज्ञा दी जा सकती है। यद्यपि दोनों का एक ही काम है पर एक से काम पूरा पड़ जाता है, और दूसरे से अधूरा-सा रह जाता है। उदाहरण लें—

मनि गन लागत तुम्हैं तो, उड्डुगन आली
　　फनि-मनि-माली लौं हमैं, सो डरपावै है।
खेलौ, हँसौ जाइ, जाहि भावत सलोनी साँझ,
　　ह्याँ तौ-जरै माँझ सो लुनाई, लोन लावै है। रत्नाकर

संयोगिनी को साँझ प्यारी और वियोगिनी को दुखदायिनी प्रतीत होती है। विरह की आग तो उसे जलाती ही है, उसपर सलोनी साँझ जले पर नमक का काम करती है। यहाँ भाषा की भावग्राहकता से भाव फूटा पड़ता है।

व्यर्थ गल गया मेरा—रसाल, मैंने स्वयं नहीं चक्खा था।
माँ, देख, छाँट कर सौ में इसे पिता के लिये बचा रक्खा था!
जड़ आम भले सड़ जावे, पर चेतन भावना तभी वह तेरी
अर्पित हुई उन्हें है, वत्स, यही मति तथा यही गति मेरी। यशोधरा

आर्या छन्द होने पर भी भाषा में प्राञ्जलता है, धारावाहिकता है जिससे इसमें ऐसी प्रेषणीयता आ गयी है कि पाठक का हृदय रस से सराबोर हो जाता है। पहले पद्य में जैसा सरल बाल-भाव है वैसा ही दूसरे पद्य में माँ का गम्भीर और प्रौढ़ भाव है। श्रद्धा-भक्ति, पूजा-पाठ में भाव की ही तो प्रधानता है। वही यशोधरा की गति है। ऐसी ही भाषा भावग्राहिणी है।

'केशोदास' मृगज बछेरू चोपैं बाघनीन,
　　चाटत सुरभि बाघ बालक बदन है।
सिंहन की सटा ऐंचैं कलभ करनि करि
　　सिंहन को आसन गयंद को रदन है।
फणी के फणन पर नाचत मुदित मोर
　　क्रोध न विरोध जहाँ मद न मदन है।
बानर फिरत डोरे डोरे अंध तापसीन
　　शिव को समाज कैधौं ऋषि को सदन है।

आश्रम की शान्ति का वर्णन है। मृग के छौने बाघिनियों के दूध पीते हैं। कवि मृगज बछेरू 'चोपैं' कहता है। बछेरू गाय के न हो जायँ, इससे 'मृगज' लगा दिया। चोपैं का अर्थ चूसना ही होता है। दूध पीने का अर्थ नहीं देता, भले ही वह अर्थ लगा लें। कवि कहना चाहता है कि आश्रम में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य नहीं हैं! 'काम' की जगह वह मदन कहता है जिससे वह स्पष्ट नहीं होता। कवि यमक के लोभ में पड़ गया है। यहाँ इस प्रसंग में विरोध बेकार है। यद्यपि असंगत नहीं कहा जा सकता। काम, क्रोध, मद आ गये तो लोभ, मोह आदि का आना ही उपयुक्त था। बिहारी ने निदाघ के दीर्घ दाह से जगत् को तपोवन बना देने पर 'अहि मयूर मृग बाघ' को एक साथ रहने भर की ही बात कही। वहाँ केशव ने हाथी के दांत को सिंह का आसन ही बना दिया, और मोर फणियों पर नाचने लगे। यह 'फणन' फणियों के नहीं, फणी के हैं। कवि को शायद शेषनाग का ध्यान आ गया हो। यदि फणी बहुवचन का बोधक मान लिया जाय तो मोर उनपर नाचेगा कैसे? उछल-उछलकर भले ही एक दूसरे पर जाय। ऐसे इसमें और भी अनेक दोष हैं।

कविता की इस भाषा में व्याकरण का दोष है, शैली की अस्वाभाविकता है, असमर्थ प्रयोग है, बनावटी शब्द हैं, कल्पना की खाल खींची गयी है। ऐसी भाषा भाव का गला रेतती है। इस भाषा में भाववाहकता है, ऐसी भाषा पर जबर्दस्ती भाव को लादने की चेष्टा है। यह भावग्रहण में लड़खड़ाती ही नहीं, थरथराती है। प्रस्तर-खण्डों से क्षत-विक्षत प्रवाह-जैसी उबड़-खाबड़ शब्दों से इसकी गति रुद्ध हो उठी है। इसमें धारा की-सी न तो तीव्रता है और न चंचलता। भाववाहिनी भाषा काव्य के काम की नहीं होती।

जलता समक्ष बिजली का बल्ब प्रगल्भ हास
मैं देख रहा अनिमेष कक्ष का मृदु प्रकाश।

यहाँ बिजली का बल्ब बलता नहीं, जलता है। इसमें यदि प्रगल्भ हास का यह अर्थ लिया जाय कि उसमें यथेष्ट हास है तो जलता क्रिया की सार्थकता नहीं रहती। यदि जलाया तो हास का क्या प्रयोजन? यदि यह अर्थ हो कि उसमें प्रगल्भता भी है, हास भी है तो जलता के साथ भी कुछ क्रिया होनी चाहिये। बिजली के प्रकाश में मृदुता कैसी? तीव्रता के लिये ही तो उसका व्यवहार किया जाता है। हो सकता है, हरा पर्दा डाल दिया गया

हो, पर यह अर्थ कहाँ है ? यदि प्रगल्भ हास पाठ है तो चलता की उपयोगिता बढ़ जाती है, पर मृदु प्रकाश की संगति नहीं बैठती।

ऐसी भाववाहिनी भाषा नये कवियों की ही नहीं होती, अनेकों प्रसिद्ध कवियों की भी होती है। निरालाजी का 'तुलसीदास' ऐसा काव्य कहा जा सकता है। निरालाजी में एक ऐसी शक्ति है कि जहाँ जैसी भाषा का प्रयोग करना चाहें कर सकते हैं, यह उनके काव्यों के पढ़नेवालों से अविदित न होगा।

भावग्राहिणी और भाववाहिनी भाषा का संयोग भी एकत्र दीख पड़ता है। पर, उसके उदाहरण की आवश्यकता नहीं। सहृदय पाठक अब ऐसे प्रसंग को सहज ही समझ लेंगे।

इन दोनों के अतिरिक्त भाषा की एक रसात्मक संस्कृति होती है। इसका सम्बन्ध गुणों से है। किन्तु व्यक्तित्व की छाप भी इसपर पड़ती है। उपाध्यायजी की रचना की भाषा पढ़ते-सुनते ही उनका व्यक्तित्व झलका देती है। निराला की भाषा अपनी निराली छटा अलग ही छटकाती है। ऐसे ही गुप्त, महादेवी, पंत आदि की भाषायें अपनी-अपनी संस्कृति का उद्घोष स्वयं करती हैं। अभिप्राय यह कि कवि अपनी-अपनी भावनायें व्यक्त करने की भिन्न-भिन्न शैलियों का आश्रय लेते हैं जो उनकी मांसमज्जागत-सी हो जाती हैं। वे चेष्टा करके भी दूसरी शैली को नहीं अपना सकते। अपनावें भी तो गुनाह बेलज्जत।

दसवाँ रंग—भाषा की भावानुकूलता

प्राचीन आचार्यों ने भाषा को प्रसन्न-गंभीर, मधुर, कोमल और कान्त होने का निर्देश किया है[1]। पोप की एक उक्ति है जिसका भाव यह है कि 'यही पर्याप्त नहीं है कि शब्दों में कर्ण-कटुता न रहे। बल्कि, शब्द ऐसे हों कि उनके उच्चारणमात्र से अर्थ ध्वनित हो जाय[2]।' कविता की भाषा का यह रूप सर्वमान्य है। सारांश यह कि भावों के अनुकूल भाषा होनी चाहिये।

द्रुम समीर-कंपित थर थर थर, झरती धारायें झर झर झर।
जगती के प्राणों में स्मर-शर बेध गये, कसके—
अलि घिर आये घन पावस के। निराला

---

१ (क) प्रसन्न-गम्भीर-पदा सरस्वती।
(ख) मधुरकोमलकान्तपदावली।

2 The socend must yeen an acho to the sense.

कवि के वर्षा-वर्णन का एक रूप यह है और दूसरा रूप यह है—

बार बार गर्जन, वर्षण है मूसल धार,
हृदय थाम लेता संसार, सुन-सुन घोर वज्र हुंकार। निराला

कवि के सामने सावन के झिर-झिर झरनेवाले पावस के घन हैं और मूसलधार बरसनेवाले बादल भी। इनमें भाव ने अपने अनुरूप ही भाषा को अपनाया है।

कवि भाषा का स्रष्टा कहलाता है। काव्य में भावोद्बोधक नव-नव शब्दों के प्रयोग के कारण वह भाषा-प्रचारक भी है। भावाभिव्यक्ति के लिये न तो समस्त—समासयुक्त भाषा की, न तो कठिन भाषा की और न तो सालंकार भाषा की आवश्यकता है। हाँ, हमारे शब्द शक्तिशाली अवश्य हों जो भावों को हृदयंगम करा सकें और अपना प्रभाव डाल सकें।

श्रीमती सरोजिनी नायडू कहती हैं —

'हमें तो यह अभीष्ट है कि हमारे शब्द मानवों के दुःख और वेदनाओं के व्यक्त करने में समर्थ हो सकें। हमारे शब्दों में ऐसी शक्ति हो कि लक्कड़ के बोझ ले जानेवाले लकड़हारे की मनोव्यथा, पत्थर फोड़नेवाले की मनोवेदना, जलप्रलय या दुष्काल के समय के हाहाकार और गरीबों के भीषण अत्याचारों को चित्रित कर सकें'।

शब्द को किसी साज की आवश्यकता नहीं। इसी भाव को कवि पंत यों व्यक्त करते हैं—

ज्योतित कर जनमन के जीवन के अन्धकार,
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी चाहिये तुम्हें क्या अलंकार?

यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि जैसा भाव होगा वैसी भाषा होगी, क्योंकि केवल वैदर्भी रीति में ही कालिदास ने उच्च से उच्च भाव प्रकट किये हैं, तथापि यह विचार मान्य-सा हो गया है कि जैसा विषय होगा—गहन वा सरल, जैसा भाव होगा—गंभीर वा सहज, वैसी भाषा-शैली अपनानी होगी। यह आवश्यक है भी। क्योंकि प्रति दिन साधारण व्यवहार में, विचारों के आदान-प्रदान में, जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, उससे साहित्यिक भाषा में विशेषता रहेगी ही और विचारों या भावों के तारतम्य से सरलता और गम्भीरता आवेगी ही। प्रसादजी का कहना है—

'पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों में तारतम्य

होना भाषाओं के परिवर्त्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिये।'

वक्तव्य यह है कि भाषा और भाव साथ-साथ चलते हैं। इनका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कोई-कोई इनका तादात्म्य संबंध मानते हैं। क्योंकि भाव का पृथक्करण असम्भव-सा है। पंत कहते हैं—'भाषा-भाव का सामञ्जस्य स्वरैक्य चित्रराग है'। जैसे, भाव की भाषा में घनीभूत हो गये हों, छुड़ाये न जा सकते हों'।

कभी-कभी भाषा भाव से भागी-भागी फिरती है। अथवा वह ऐसी उच्छ्वसित, उद्वेलित या प्रवाहमयी हो जाती है कि उसमें भाव बह जाता है।

> निर्मल जल अन्तरतल भरके,
> उछल उछल कर छल छल करके
> थल थल तरके, कल कल झरके।

शब्द ही शब्द है। भाव भटकता भूल गया है। कहीं-कहीं ऐसा भी देखा जाता है कि भाषा भाव को सम्हाल नहीं सकती।

> बिथुर्‌यो जावक सौति पग निरखि हँसी गहि गाँस।
> सलज हँसौ ही लखि लियौ आधी हँसी उसाँस। बिहारी

यहाँ कवि के उमड़ते भावों को भाषा नहीं सम्हाल सकी है और वे अर्थ-भार से दुर्बोध हो रहे हैं। ऐसी भाषा कविता को निस्सार और दुरूह बना देती है।

भाषा भाव का एक सुन्दर उदाहरण लें—

> जल में शतदल तुल्य सरसते, तुम घर रहते हम न तरसते।
> देखो दो दो मेघ बरसते, मैं प्यासी की प्यासी॥
> आवो हे वनवासी। गुप्तजी

जैसा भाव वैसी भाषा। भाषा भाव के और भाव भाषा को परस्पर अपना-अपना हृदय प्रदान करते हैं। दोनों सीधे हृदय पर प्रभाव डालते हैं। गीत की गति तो पिछलन पैदा कर देती है।

ग्यारहवाँ रंग—भाषा की उत्तमता

भाव-प्रकाशन के अतिरिक्त भाषा की एक और शक्ति भी होती है मनोरंजकता। वह अपने गुणों से श्रोता के मन हरण कर लेती है। यह तभी सम्भव है, जब कि सरल शैली, सुन्दर शब्दविन्यास, उच्चारण-सुलभ छुन्द-योजना और अशिथिल काव्यबन्ध हों। यदि उसमें कला की कुशलता हो, अलंकारों का चाकचिक्य और लाक्षणिक चमत्कार हों तो सोने में सुगन्ध समझिये।

काव्य में भाव ही सब कुछ नहीं, भाषा भी बहुत कुछ है। भाव के साथ भाषा भी कुछ कहती-सी जान पड़ती है। जहाँ भाव की व्यंजना है वहाँ भाषा का सौन्दर्य भी चाहिये। नादविशेष सौन्दर्य की ज्योति को जैसे विकसित कर देता है वैसे माधुर्य की धारा भी बहा देता है। फिर तो आनन्द ही आनन्द है। एक दो उदाहरण देखें—

१ बिंदु में थीं तुम सिन्धु अनंत एक सुर में समस्त संगीत।
एक कलिका में अखिल वसंत धरा पर थीं तुम स्वर्ग पुनीत। पंत

२ विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चंद,
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मंद,
यहाँ किसका अनन्त यौवन, अरे अस्थिर छोटे जीवन। महादेवी

३ बरसे आग जलद जल जाये भस्मसात भूधर हो जाये।
पाप पुण्य सदसद्भावों की धूल उड़ उठे दाँये-बाँये।
नभ का वक्षस्थल फट जाये तारकवृन्द विचल हो जायें।
कवि कुछ ऐसी तान सुना दो जिससे उथल पुथल हो जाये। नवीन

४ रस सिंगार मंजन किये कंजन भंजन दैन।
अंजन रंजन हू बिना खंजन गंजन नैन। बिहारी

इन पद्यों की भाषा भाव की अनुगामिनी तो है ही मनोहारिणी भी है। कहीं माधुर्य है तो कहीं प्रसाद और कहीं ओज। किसी में प्रसाद माधुर्य है तो किसी में ओज-माधुर्य। यथास्थान इनका रंगरूप निखर आया है। वह पाठकों पर अपना प्रभाव डालती है। इसी से एक अंग्रेज समीक्षक ने कहा

था कि मैं कविता दो बार सुनना चाहता हूँ। पहले नाद-सौन्दर्य के लिये, पीछे अर्थबोध के लिये[1]।

जहाँ भाषा कृत्रिम होती है, क्लिष्ट और श्लिष्ट शब्दों से लदफद रहती है, मनगढ़ंत, अप्रसिद्ध, तथा असमर्थ शब्दों से लँगड़ाती सी चलती है वहाँ की वाक्य-रचना विशृंखल तथा उखड़ी-उखड़ी और उसकी शैली जटिल तथा दुरूह हो जाती है। जैसे—

भारत के नभ का प्रभापूर्य शीतल-च्छाय सांस्कृतिक सूर्य,
अस्तमित आज रे तमस्तूर्य दिङ्मण्डल;
उर के आसन पर शिरस्त्राण शासन करते हैं मुसलमान;
है ऊर्मिल जल निश्चलत्प्राण पर शतदल। निराला

हम इसके काव्य-ग्रन्थ की प्रशंसा कर सकते हैं। शेष बातों में ऐसे पद्य मेरी उक्ति का ही समर्थन करते हैं। ऐसे ही स्थानों के लिये यह सूक्ति प्रचलित है।—'काव्य सुना, पर समझा नहीं[2]'। ऐसी भाषा की सार्थकता ही क्या जो सम्यक् रूप से भाव को प्रकाश न कर सके, पाठकों के बोधगम्य न बना सके, सहृदयों का हृदय द्रवित न कर सके। शब्दों का आडंबर भाषा की कृत्रिमता को दूर नहीं कर सकता।

कभी-कभी भाषा भाव को ऊपर उठा देती है, उसमें तीव्रता ला देती है और उसकी अनुपमता प्रकट कर देती है। जैसे—

सिखा दो ना हे मधुप-कुमारि! मुझे भी अपना मीठा गान
कुसुम के चुने कटोरों से करा दो ना कुछ-कुछ मधु-पान। पंत

मधुपकुमारी—बाल-मधुकरी के गान पर मुग्ध होकर कवि उसकी मनुहारें करता है जिससे उसकी कविता में भी गुंजार-सी मिठास पैदा हो। 'ना' से आन्तरिक अनुनय-विनय प्रकट है। 'ना' के प्रयोग से कवि की उक्ति में अनुरोधात्मक बाल-भाषित की सी मधुरता और सुकुमारता है।

---

1 Repeat me verses again......for I always love to hear poetry twice, first time for sound and the latter time for sense. The *Ruidments of Criticism.*

२ 'काव्यं श्रुतम् अर्थो नावगतः'।

ग्यारहवाँ रंग—भाषा का चित्रधर्म

भाषा का चित्रधर्म उसे कहते हैं जिसके द्वारा किसी वस्तु वा घटना के अनुकरण द्वारा वक्तव्य विषय का प्राञ्जल रूप से प्रकाश किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि हम जो कुछ समझते हैं उसमें अधिकांश बाहरी वस्तुओं की वा घटनाओं की प्रतिछवि ही होती हैं। हम कहते हैं कि 'हमारी आखें लड़ गयीं' तो पारस्परिक देखा-देखी का एक चित्र खड़ा हो जाता है। लड़ना एक वाह्य क्रिया है। उसका आँखों के मिलने में जब प्रयोग किया तो देखने भर का ही भाव उसमें नहीं रहा, बल्कि लड़ने का एक जैसा उद्देश्य रहता है, वैसा ही उद्देश्य आँखों की लड़ाई में भी छिपा हुआ है। लड़ना साभिलाष दर्शन का द्योतक है। उसमें कुछ लालसा है, तृष्णा है, रस और राग है। भाषा के अन्दर भरा-पूरा जो यह जागतिक प्रतिकृति वा प्रतिछवि है, वही भाषा का चित्रधर्म है। यह जितना ही सजा-सँवारा, साफ-सुथरा और स्पष्टार्थक शब्दों में व्यक्त होगा उतना ही चित्रधर्म (Image) उत्तम होगा। कार्य, दृश्य, स्थान, पात्र आदि जितने ही सुस्पष्ट होंगे उतने ही स्पष्ट चित्र होंगे। चित्र-विन्यास में जितना स्थूल-गोचर विषय होगा, जितना ही परिचित विषय होगा, उतना ही भाव-संचार सहज होगा।

> तीस कोटि सन्तान नग्न तन,
> अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
> मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
> नत मस्तक
> तरु तल निवासिनी,
> भारत माता
> ग्राम-वासिनी। पंत

भारत-माता की यह मूर्ति सर्वसुपरिचित है। इसके आश्रय से प्रकाशित भाव को सर्वसाधारण उपलब्ध कर सकते हैं। इसमें जो रूप है वह प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत अभिज्ञता का प्रतिरूप रूप है। इसका प्रत्येक शब्द एक-एक चित्र उपस्थित करता है, हमारे अन्तर को छू देता है और करुणा का करुण करपात कर देता है। काव्य सम्पत्ति भले ही कम हो।

> लाली बन सरस कपोलों में आँखों में अंजन सी लगती।
> कुंचित अलकों सी घुँघराली मन की मरोर बन कर जगती। प्रसाद

यह सर्वसुपरिचित लज्जा भाव का चित्रण है। लज्जालु व्यक्ति के गाल

लाल हो जाते हैं। अंजन से आँखों की शोभा होती है, और लजीली आँखें ही सुन्दर होती हैं। मन की मरोर भी लाज की ही लीला है। इसमें अमूर्त लज्जा चित्रधर्म से ही मूर्त हो गयी है।

प्रकृत कवि की भाषा चित्रमय होती है। यदि भाषा चित्रमय न हो तो भाव प्रकाश प्रायः दुरूह हो जाता है। संगीत और चित्र से भाषा-भाव ग्राह्य बन जाते हैं। इससे अन्य भी वैसे ही रसतृप्त होते है, जैसे भाषा के चित्रकार भावुक कवि। भाषा के इसी चित्रधर्म से अधिकांश अर्थालंकारों की उत्पत्ति होती है।

तेरहवाँ रंग—भाषा का संगीतधर्म

जिस भाषा से रस-भाव की उपलब्धि होती है, उसके दो धर्म स्पष्ट लक्षित होते हैं—एक संगीतधर्म और दूसरा चित्रधर्म। संगीत काव्य का रस है और चित्र रूप। ध्वनि प्राण है, चित्र शरीर। इस प्रकार काव्य दृश्य द्वारा हमें चित्र-कला की ओर ले जाता है और छंद द्वारा संगीत के निकट। अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिये दोनों आवश्यक हैं।

शब्दालंकार के साधन हैं छंद और अनुप्रास। इन दोनों से ही संगीत-सृष्टि होती है। जो भाव साधारण भाषा द्वारा प्रस्फुटित नहीं होता वह ध्वनि-माधुर्य से फूटा पड़ता है, उसकी सुकुमारता और मनोहारिता स्वर-लहरियों में तैरती-फिरती दृष्टि-गोचर होती है।

छंद काव्य का संगीत है। संगीत में जो संयम ताल से आता है वही संयम कविता में छंद से आता है। शुक्लजी का यह कहना यथार्थ है कि 'छंद के बंधन के सर्वथा त्याग से हमें तो अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता (Communicability of sound impulse) का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पड़ता है'। क्षेमेन्द्र के कथनानुसार 'कवि को छन्दोयोजना रसों और वर्णनीय विषयों के अनुकूल ही करना चाहिये, जिससे नाद-सौन्दर्य के साथ-साथ रस की भी अभिव्यक्ति सुस्पष्ट हो'[1]।

शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक आदि मुख्य हैं। इनसे काव्य में राग और झंकार पैदा होते हैं। अन्त्यानुप्रास तो छन्द में, स्वाभाविक कथन में एक

---

१ काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्। सुवृत्ततिलक.

अनोखा सौन्दर्य पैदा कर देता है। इसी से प्राचीन कवि इसपर इतने मुग्ध थे। पन्त ने तो राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियों को अन्त्यानुप्रास के नाड़ी-चक्र में केन्द्रित बतलाया है।

तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगा-स्नान;
तुम्हारी वाणी में कल्याणि त्रिवेणी की लहरों का गान। पंत

इसके शब्दालंकार अपनी झंकार से सुकुमार भाव को प्राणों में बैठा देता है और अनुप्रास कविता में नूतन प्राण फूँक देते हैं। भाव की भूषा से छन्द भी भूषित हो गया है। कविता स्वयं अपना भाव अपने शब्दों से व्यक्त कर रही है।

जीवन प्रात समीरण सा लघु विचरण निरत करो।
तरु-तोरण-तृण-तृण की कविता छवि मधु सुरभि भरो। निराला

इसमें छन्द भी है अनुप्रास भी है, पर छन्द और अनुप्रास का वह सौन्दर्य नहीं है। 'ण' माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों में नहीं गिना जाता पर प्रथम पद्य में वह सुन्दर प्रतीत होता है, दूसरे पद्य में नहीं। कारण यह कि भावगति स्वच्छन्द-प्रसूत नहीं है। यहाँ की शब्दयोजना प्रयत्नसाध्य-सी प्रतीत होती है। यह मन को भाराक्रान्त कर देती है।

चौदहवाँ रंग—चित्रभाषा

काव्य की भाषा कलामय ही नहीं होती, सौन्दर्य से ओत-प्रोत भी होती है। ऐसी भाषा एक तो संकेतात्मक होती है जो अपने में ही सीमित रहती है और दूसरी बिंबाधायक होती है। बिंबाधायक भाषा का स्थान चित्रमय भाषा ने ग्रहण कर लिया है। पंतजी कहते हैं—

"कविता के लिये चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिये जो बोलते हों, सेव की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर छलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके, जो झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हो; जिनका भाव-संगीत विद्युद्धारा की भाँति रोम-रोम में प्रवाहित हो सके…।"

यह चित्र कई प्रकार का होता है—शब्दचित्र, रेखाचित्र, वस्तुचित्र और भावचित्र। इनमें शब्दचित्र की प्रधानता है।

१ शब्दचित्र सभी चित्रों का मूल कारण है।

निज सौधसदन में उटज पिता ने छाया
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया। गुप्तजी

सीताजी की इस उक्ति में उटज और राजभवन बोलनेवाले शब्द हैं और अपने भावों को अपनी वस्तुस्थिति से ही आँखों के सामने चित्रित कर देते हैं।

कभी चहलकदमी करने को काँटों का कुछ ध्यान न कर
अपना पाईबाग बना लोगे प्रिय इस मन को आकर। गुप्तजी

इसमें चहलकदमी और पाईबाग अपने चित्र आप उपस्थित कर देते हैं।

दिन की आभा दुलहिन बन आई निशि निभृत शयन पर।
वह छवि की छुईमुई सी मृदु मधुर लाज से मर मर। पंत

दुलहिन और छुईमुई दिन की आभा को अपना अर्थ-सौन्दर्य प्रदान कर उसको सचमुच दुलहिन ही बनाकर छोड़ देती हैं।

२ रेखाचित्र सहज ही एक चित्र खड़ा कर देता है। कवि ने एक कलम चला दी और चित्र तैयार हो गया।

कालिमा घुलने लगी घुलने लगा आलोक। प्रसाद

इसमें हटते हुए बादलों और निखरती चाँदनी का स्पष्ट रेखा-चित्र उतर आया है।

खींच लो इसको कहीं क्या छोर है, द्रौपदी का यह दुरंत दुकूल है।
—पंत

उच्छ्‌वास की अपरिमेयता, अनन्तता तथा निस्सीमता का कैसा भव्य चित्र चित्रित किया गया है।

सुमन भर न लिये सखि वसन्त गया। निराला

यथासमय अपनी आकांक्षाओं को पूर्ण न कर लेने का कैसा करुण चित्र है। निराशा निखर आयी है।

३ वस्तुचित्र में वस्तुओं का यथार्थतः चित्रण ही होता है। जैसे—

केतकी गर्भ-सा मुख पीला आँखों में आलस भरा स्नेह।
कुछ कृशता नयी लजीली थी कंपित लतिका सी लिये देह। प्रसाद

इससे एक गर्भवती स्त्री के यथार्थ रंग-रूप का जो चित्र उपस्थित होता है वह वस्तुचित्र ही है।

इसी समय पौ फटी पूर्व में पलटा प्रकृति-नटी का रंग।
किरण कंटकों से श्यामांबर फटा दिवा के दमके अंग। गुप्तजी

ऊषा के इस चमत्कारक वस्तुचित्र में जिन भावनाओं का मिश्रित, सरल तथा सुन्दर चित्रण है वह विस्मयजनक भी है।

४ भावचित्र तो आधुनिक प्रसिद्ध कलाकारों की कलामयी रचना में स्थल-स्थल पर विद्यमान हैं। भाषा-शैली ही उन चित्रों को भी चित्रित करती है।

इन चित्रों के अतिरिक्त कवि अन्य चित्र भी अपनी रचना में चित्रित करता है। वे हैं संकेतचित्र, अमूर्तचित्र और गतिचित्र। इनके अनुकूल भाषा होने से ये चित्र भी प्रस्तुत हो सकते हैं। आधुनिक कलाकारों में इनकी विशेषता देखी जाती है।

संकेतचित्र छायावादी कवियों की कविता में लक्षित होते हैं। ऐसा चित्र उपस्थित करना साधारण प्रतिभा का काम नहीं।

अगुरुधूम की श्याम लहरियाँ उलझी हों इन अलकों से
मादकता लाली के डोरे इधर फँसे हों पलकों से।

× × × ×

छवि प्रकाश किरणें उलझी हों जीवन के भविष्य तम से
ये लायेंगी रंग सुलालित होने दो कंपन सम से। प्रसाद

अलकों से उलझनेवाली अगुरुधूम की श्याम लहरियाँ उनके सुवासित, श्याम तथा घुँघराले होने की बात सुन्दर संकेतों से व्यक्त करती हैं। ऐसे ही तीसरी पंक्ति के 'जीवन के भविष्य तम से' छवि-प्रकाश-किरणों के उलझने से यह संकेत मिलता है कि वह सुन्दर संयोग भविष्य के दुखद वियोग से रहित नहीं है। आज का हास-विलास आह-कराह से खाली नहीं है। अमूर्त का मूर्त चित्र देखिये—

किन कर्मों की जीवित छाया उस निद्रित विस्मृति के संग,
आँखमिचौनी खेल रही वह किन भावों का गूढ़ उमंग। पंत

यह स्वप्न का चित्र है। अमूर्त होकर भी आँखमिचौनी खेल रही है। प्रसाद की एक ही पंक्ति में लाज का भी चित्र देख लें।

लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों?

हनुमानजी के द्वारा शक्तिशराहत लक्ष्मण का संवाद पाकर उद्विग्न भरत ने सैन्य सज्जित करने की आज्ञा दी और शत्रुघ्न ने आज्ञा-पालन के लिये जिस क्षिप्रकारिता से अयोध्या की यात्रा की उसकी त्वरित गतिशीलता की भाषा देखिये—

सिर पर नत शत्रुघ्न भरत निर्देश धरे थे,
पर 'जो आज्ञा' कह न सके आवेश भरे थे।
छूकर उनके चरण द्वार की ओर चढ़े वे,
झोंके पर ज्यों गंध अश्व पर कूद पड़े वे। गुप्तजी

शत्रुघ्न जैसे भागे जा रहे हों। जी हाँ, जैसी आज्ञा, कहने का भी अवकाश नहीं। चरण छूने ही भर की देर भी। बाहर निकलकर घोड़े पर चढ़े नहीं, उसपर कूद पड़े। भाषा की गतिमत्ता तीव्र गति का जीता-जागता चित्र खड़ा कर देती है।

इस प्रकार चित्र उपस्थित करने में भाषा की लाक्षणिकता बड़ी सहायक होती है जो ऊपर के कुछ उदाहरणों में भी है। यदि भाषा में सांकेतिकता, ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, चित्रमयता तथा अवसरोपयोगिता हो तो ऐसे स्वरूपाधायक चित्र सहज साध्य हो सकते हैं। साथ ही भाषा की वक्रता और मौलिक प्रयोगों की विविधता भी वाञ्छनीय है।

पंद्रहवाँ रंग—चित्रभाषा के कुछ साधन

अभिनव काव्य-कला में चित्र-भाषा की बड़ी महत्ता है। काव्य-भाषा को चित्रमय बनाने के अनेक साधन हैं। उनमें पहला साधन है लक्षणा शक्ति से काम लेना। इसमें प्रतीक-पद्धति भी सम्मिलित है। दूसरा है मानवीकरण और तीसरा है विशेषण-विपर्यय। इन दोनो मे भी लक्षणा का ही चमत्कार सामने आता है।

जब हम कहते हैं कि 'उसकी आँखों से गंगा-यमुना की पवित्र धारा उमड़-उमड़कर बह रही थी' या 'वह इसके लिये सावन भादो की झड़ी लगा रही थी' या 'जी चाहता है कि ऐसे समाज को मिट्टी का तेल छिड़ककर फूँक डालूँ' या 'ऐसा न हुआ तो मेरा नाम, जमीन पर लिखकर थूका करना' तब इन वाक्यों के 'गंगा-यमुना की धारा' तथा 'सावन-भादों की झड़ी' से रोने

की अधिकता का एक ऐसा चित्र खड़ा हो जाता है जिससे सहृदयों के हृदय द्रवीभूत हो जाते हैं, और तीसरे तथा चौथे वाक्यों से क्रमशः समाज को नष्ट करने तथा कहनेवाले व्यक्ति के प्रति घृणा प्रदर्शन करने के जो चित्र हमारे सामने आते हैं और उनका जो प्रभाव पड़ता है या उनका जो हम अनुभव करते हैं वह साधारण भाषा से कभी सम्भव नहीं। इन चित्रों के चित्रित करने में लक्षणा की करामाती कूची ही काम करती है। इसको मूर्त-योजना भी कहते हैं।

इस करुणाकलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती,
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती। प्रसाद

कवि अपनी वेदना की तीव्रता को व्यक्त करना चाहता है। उसे स्वर के हाहाकार विशेषण से भी संतोष नहीं हुआ। हृदय में वेदना उठती नहीं, गरजती है। 'वेदना का गरजना एक मूर्त योजना है, चित्र प्रस्तुत करना है। गरजने से हम भली भाँति परिचित हैं। जोरों से वेदना उठ रही है या बहुत वेदना होती है, इनसे हमारे मन में कोई मूर्त भावना नहीं उठती है, कोई चित्र खड़ा नहीं होता। पर 'गरज़ना' कहने से हम भली भाँति हृदयंगम कर लेते हैं। इससे निःसीम और अपार वेदना का भाव हमारे हृदय में झलक उठता है। कवि को वेदना के उठने की बात तो भाती ही नहीं, लक्षणा के बल पर कहने, बोलने, चिल्लाने की बात से भी उसे अरुचि है। वह गरजने की बात कहकर उसकी तीव्रता, गम्भीरता और अधिकता का हमें अनुभव कराता है। गरजने की प्रभविष्णुता से वह ऐसा मूर्त चित्र उपस्थित करता है कि संवेदनशील हृदय तड़प उठता है।

उक्त उदाहरण लक्षणा का ही खेल है। यहाँ मानवीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि ऐसे स्थानों में शब्द, क्रिया आदि की जागरूकता ही प्रधान है। मानवी क्रिया की विशेषता लक्षित नहीं होती।

प्रतीक-पद्धति में अभिधेयार्थ का स्थान लक्ष्यार्थ ग्रहण कर लेता है और प्रस्तुत का अप्रस्तुत। अन्योक्ति-समासोक्ति में अप्रस्तुत का बोधमात्र होता है, उससे चित्र उपस्थित नहीं होता। किन्तु भावुक कवि गुण-धर्म का सूक्ष्म आधार लेकर प्रतीकों द्वारा जब अपनी बाह्य और आन्तर भावना को लक्षणा के बल पर व्यक्त करने लगता है, तो उसमें चित्रात्मकता स्वभावतः आ जाती है। इस प्रकार भाषा की सम्पन्नता और अमीरी भी बढ़ती है।

आँधी तूफानों से लड़कर लक्ष्यवेध करना ही होगा,
पर्वा नहीं शूल बंधों से, पटी हुई पृथ्वी होगी। भट्ट

इसमें आँधी-तूफान कठिनाइयों के लिये और शूल और बंध पग-पग पर की विपत्तियों के लिये आये हैं। ये दोनों प्रतीक कठिनाई और विपत्ति के चित्र खड़े कर देते हैं। प्रतीक-पद्धति के सहारे ही प्रसादजी ने अपने प्रसिद्ध पद्यार्द्ध

झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है नीरदमाला

में भावों की गहन अनुभूति को व्यक्त किया है।

पर्ण कुंजों में न मर्मर गान सो गया थककर शिथिल पवमान,
अब न जल पर रश्मि बिंबित लाल मूँद उर में स्वप्न सोया ताल। दिन०

इसमें पवमान—हवा का शिथिल होना, थकना और सोना मानवी क्रियायें हैं। हृदय में स्वप्नों को समेटकर ताल का सोना भी मानवी व्यापार है। इस मानवीकरण से हवा के न बहने और ताल के अचंचल होने के चित्र सामने उपस्थित हो जाते हैं। इस मानवीकरण में लक्षणा सहायक है।

कल्पना में है कसकती वेदना अश्रु में जीता सिसकता गान है। पंत

वेदना नहीं कसकती, वेदना से कसक होती है। गान नहीं सिसकता, गानेवाला सिसकता हुआ गाता है। 'निकलते हुए आँसू में वेदना का राग भरा हुआ है' यह अर्थ विशेषणविपर्यय से होता है, जिसमें लक्षणा की भी करामात है।

आधुनिक कवि चित्रभाषा के बड़े प्रेमी हैं और इन साधनों से बहुत काम लेते हैं। इससे भाषा की व्यञ्जना बहुत बढ़ जाती है।

सोलहवाँ रंग—भाषा में रूपों और व्यापारों की योजना

कविता हमें तब अधिक भावप्रवण कर देती है जब कि वह स्वाभाविक रूपों और व्यापारों की योजना करती है, वर्णनीय विषय को गोचर रूप में लाने के लिये पूर्ण चित्र खड़ा कर देती है। अतः रूपयोजना के लिये चित्रात्मक भाषा अपनानी पड़ती है। प्राचीनों ने इसपर पूरा ध्यान दिया था।

पूर्वजन्मधनुषा समागतः सोऽतिमात्रलघुदर्शनोऽभवत्।
केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः किं पुनः त्रिदशचापलांछितः॥ रघु

परशुराम से धनुष प्राप्त कर राम अतिसुदर्शन प्रतीत हुए। एक तो नव नीरद यों ही मनोरम होता है, दूसरे उसमें इन्द्रधनुष का उदय हो जाय तो उसकी शोभा का क्या कहना!

कवि ने यहाँ ऐसी रूपयोजना की है कि धनुर्धारी राम का सौन्दर्य गोचर हो गया है; उनके सौन्दर्य का चित्र सामने उपस्थित हो जाता है।

इन्द्रधनुष का सौन्दर्य किसको मोहित नहीं कर लेता! कालिदास ने कई स्थानों में, सौन्दर्य प्रदर्शन का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर इन्द्रधनुष को 'नवाम्बुदानीकमुहूर्तलांछने' आदि पदों से ला खड़ा किया है।

वर्ड्सवर्थ कहता है My heart leaps up when I see the rainbow—जब मैं इन्द्रधनुष देखता हूँ तब मेरा हृदय उछलने लगता है। कविवर पंत कहते हैं—

स्वर्गसेतु से इन्द्रधनुषधर कामरूप घनश्याम अमर।

कवि पंत तो इन्द्रधनुष पर ऐसे लट्टू हैं कि उसके बार-बार प्रयोगों से कभी ऊबते ही नहीं जैसे उसकी मोहिनी माया से जकड़ गये हों।

विरल इन्द्रधनुषी बादल सा बदल रहा निज रूप अपार।

महादेवीजी कहती हैं—

सुरधनु रचतीं निश्वासें स्मित का इन भींगे अधरों पर।

कवि पंत सुरधनु के सात रंगों से भी अपनी भावव्यञ्जना का काम लेते हैं—

अरुण अधरों की पल्लव प्रात मोतियों सा हिलता हिम हास।
इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात बालविद्युत् का, पावस लास॥

और भी देखिये—

तजकर तरल तरंगों को इन्द्रधनुष के रंगों को
तेरे भ्रू-भंगों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग सा मन। पंत

महादेवीजी लिखती हैं—

सस्मित पुलकित, नितपरिमलमय इन्द्रधनुष सा नवरंगोंमय,

कालिदास ने भी इन्द्रधनुष को 'रत्नच्छायाव्यतिकर इव'—विभिन्न रत्नों की विभिन्न रश्मियों का संमिश्रण कहा है। ये सब रूपयोजनायें ही हैं।

प्राचीन कवियों ने व्यापारयोजना भी असाधारण की है। कालिदास की एक व्यापारयोजना देखिये—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥

संसार में कोई सदा सुखी नहीं रहता और न कोई सदा दुखी। मनुष्य की दशा गाड़ी के पहिये की नेमि—अरई की भाँति कभी ऊपर, और कभी नीचे आती-जाती रहती है।

यहाँ की व्यापारयोजना जो चित्र उपस्थित करती है उससे मनुष्य के सुखी वा दुखी होने, उन्नत वा अवनत होने का भाव हृदयंगम हो जाता है। "सबै दिन नाँहि बराबर जात" की भावना मन में जाग उठती है।

मैं रूठूं माँ और मना तू कितनी अच्छी बात कही,
ले मैं सोता हूँ अब जाकर बोलूँगा मैं आज नहीं।
पके फलों से पेट भरा है नींद नहीं खुलने वाली,
श्रद्धा चुंबन से प्रसन्न कुछ कुछ विषाद से भरी रही। प्रसाद

यहाँ कवि ने जो व्यापारयोजना की है उससे कौन-सा सहृदय मुग्ध नहीं हो जायगा ! सरल भाव की सरलता तो और सरसा रही है।

सत्रहवाँ रंग—भाषा में नाम की सार्थकता

काव्य-भाषा की एक विशेषता यह भी है जो लक्ष्य में रखने लायक है। कभी-कभी कवि ऐसे नामों का उपयोग करता है जिससे उनके रूप, गुण और कार्य का बोध होता है। इससे भावबोधन में बड़ी सहायता प्राप्त होती है और श्रोता पर उसके अर्थ के सौष्ठव का प्रभाव पड़ता है। ऐसे नाम अवसर के अनुकूल होने से काव्य में और भी चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं।

हे अनन्त रमणीय कौन तुम यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो, क्या हो, इसका तो भार विचार न सह सकता।
हे विराट हे विश्वदेव तुम कुछ हो ऐसा होता भान। प्रसाद

जिसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता उसके लिये अनन्त कैसा सार्थक सम्बोधन है और विराट् तथा विश्वदेव का सम्बोधन भी उसके गौरव के सम्बन्ध में बहुत ही अपूर्व व्यञ्जना करते हैं।

ऊपर विद्युज्ज्योति जागती आडंबर भी भारी।
किन्तु सजल निज घनश्याम की बार बार बलिहारी। गुप्तजी

इसके पूर्व के पद्यार्द्ध में सुदामा ने जो 'बाहर तेज किन्तु भीतर से करुणा उमड़ रही है' कहा है उसकी सार्थकता घनश्याम शब्द सिद्ध कर देता है। घनश्याम श्याम घन हैं, इससे उनमें बिजली की चमक भी है और शीतल जल भी। सुदामा के कहने का आशय यह कि उसका ऊपरी लकधक, तड़कभड़क भले ही भ्रामक हो पर वह भीतर ही भीतर सरस है। सारांश यह कि वह हमको भूलेगा नहीं, करुणा-मिश्रित स्नेह-जल से अवश्य सिक्त करेगा। कवि ने कृष्ण के घनश्याम नाम से सहृदय पाठकों पर भावना का जादू-सा कर दिया है।

पाँच पाँच नाथ होत नाथनि के नाथ होत
हाय हौं अनाथ होति नाथ बस ह्वै चुकी। रतनाकर

'नाथ' का सम्बोधन अनाथ के लिये कहना सार्थक और मार्मिक है।

देखन कों रतनाकर कौं बस नेकु मैं एक पै एक गिरैंगे।
धेनु चराइ बजावत बेनु सुन्यों इहि गैल गुपाल फिरैंगे।

कवि ने कृष्ण को गुपाल नाम का प्रयोग करके भावाभिव्यक्ति को सजीव बना दिया है। धेनु चराने की सत्यता पर गुपाल शब्द ने मुहर लगा दी है।

भक्त गजराज की पुकार पर भगवान ने 'चित्तहूँ सौं चौगुने चपल चलि राह में' गजराज का उद्धार तो किया पर

बारन उबारि दशा दारुन विलोकि तासु,
हुचकन लागै आप करुना प्रवाह मैं।

इस पर गजराज के इस कथन में

एक की कहा है कोटि करुनानिधान प्रान,
वारतै सचैन पै न तुमकौं पुकार तै।

करुनानिधान नाम का यह विशेषण कितना सार्थक है, कितना भाव-व्यंजक है और कितना रूप, गुण और कार्य को प्रत्यक्ष कराता है कि पाठक करुणा में सराबोर हो जाते हैं।

मैं मुरलीधर की मुरली भई मेरी भयो मुरलीधर माला।

कहना नहीं होगा कि गोपिका ने मुरलीधर की मुरली होकर अपने को उनकी प्रेयसी होने की और उनको अपने प्रिय होने की जो चमत्कारिक व्यञ्जना की है वह मुरलीधर नाम की ही महिमा है।

अठारहवाँ रंग—भाषा में लक्षणा—१ क्रिया

भाषा की बोधात्मिका शक्ति की अपेक्षा रागात्मिका शक्ति की प्रबलता है। यह मानव-मन को अत्यधिक आकर्षित करती है। ज्ञान के उपासक कम और राग के उपासक बहुत हैं। मन की रुझान सौन्दर्य की ओर अत्यधिक रहती है। इसका प्रमाण हृदय ही है। 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' से भी सूखा पेड़ होने का ज्ञान होता है और 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' से भी। किन्तु इसके शब्दों में रागात्मिक शक्ति की प्रबलता है।

हमारे रागात्मक क्षेत्र के भीतर जो वस्तु, अर्थ और भाव आते हैं उनसे यां तो सुख होता है या दुःख, अर्थात् हम सुख या दुःख का अनुभव करते हैं, उनका संवेदन होता है। हृदय ही संवेदनशील होता है। उसी पर बाह्य वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव से हृदय-वृत्तियाँ जाग उठती हैं, उनमें जीवन-सा आ जाता है। कवि का कर्म है इन वृत्तियों को उच्छ्वसित करना, उद्बुद्ध करना। इसके लिये वह अनेक उपकरणों का आश्रय ग्रहण करता है।

कवि हृदय की वृत्तियों को प्रस्फुटित करने का कब कौन-सा मार्ग ग्रहण करेगा, किस विधि को अपनायेगा, इसकी सीमा कोई नहीं बाँध सकता। यह उसकी प्रतिभा, कल्पना तथा प्रकाशनकला पर निर्भर करता है। किन्तु सबका उद्देश्य एक ही रहता है—हृदय पर प्रभाव डालना। यह प्रभाव तभी पड़ता है जब कवि द्वारा चित्रमय भाषा में वर्णनीय वस्तु मूर्त रूप में, ग्राह्य रूप में उपस्थित की जाय। शब्द की लक्षणा शक्ति ही ऐसी है जो वर्णनीय को गोचर रूप दे सकती है।

मुख्यार्थ की बाधा या व्याघात होने पर रूढ़ि या प्रयोजन को लेकर जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला अन्य अर्थ लक्षित हो उसे लक्षणा कहते हैं।

पानी पड़ता है, पानी गिरता है, पानी बरसता है। यह पानी के नीचे गिरने की क्रियायें हैं। किन्तु प्रत्येक में पानी के पतन की विशेषता है। पड़ने से कुछ बूँदों का पड़ना—नीचे आना मालूम होता है। गिरना कहने से बूँदों के पड़ने की मात्रा बढ़ जाती है। उनके गिरने का क्रम टूटता नहीं। पर बरसने की बात जब कहते हैं तब पानी गिरने का परिमाण बढ़ जाता है, उसमें जोर आ जाता है, और उसका लगातार पड़ना मालूम होता है और

उसकी अत्यन्त अधिकता प्रतीत होती है, यहाँ बरसना का यह वाच्यार्थ ही है। जब हम यह कहते हैं—

सॉंस खींच कर कहते-कहते बरस पड़ीं आखें झर-झर।

आँखों से आँसू की बूँदें टपकती हैं और उसमें जोर आ जाता है तो बहती है। किन्तु इससे भी उसमें अधिकता द्योतित करना होता है तो कवि लक्षणा का सहारा लेता है और प्राकृतिक जगत् की ओर आँख दौड़ाता है। वह जलवृष्टि का दृश्य देखता है और अश्रुपात को अश्रुवृष्टि का रूप दे देता है। आँसू बहने पर वह बरसने का आरोप कर उसमें तीव्रता ला देता है। वह यह नहीं सोचता कि आँसू बहना कभी वृष्टिपात नहीं हो सकता, पर वह सोचता यह है कि पानी गिरने की बात है ही तो मैं क्यों नहीं उसे बरसात की बारिश बनाकर आँसू की अधिकता का प्रयोजन सिद्ध कर लूँ। कवि का काम हो गया। उसने रसिकों के मन में यह बात बैठा दी कि बेगम के दुःख का पारावार नहीं और वह ऐसा उमड़ पड़ता है कि आँखों से झड़ी लग जाती है। यहाँ एक बरसने की लाक्षणिकता ने रसिकों को बेगम के दुःख का समसंवेदनशील बना दिया है।

यहाँ एक बात और ध्यान देने लायक है। वह यह कि आखें झरतीं नहीं, आँसू झर-झर झरते हैं। यहाँ उपादान लक्षणा है जो अपनी अर्थ-बाधा दूर करने के लिये आँसू का उपादान कर लेती है। यहाँ आँखें झरने की बात यह भाव व्यक्त करती है कि आँखें आँखें न रह गयीं, अश्रुमय हो गयी हैं, ज्ञात होता है आँसू नहीं झरते, आँखें ही जैसे झर रही हैं। ऐसे साहित्यिक प्रयोग रचना में चार चाँद लगा देते हैं।

युद्ध का उन्माद संक्रमशील है एक चिनगारी कहीं जागी अगर—
तुरत, बह उठते पवन उनचास हैं दौड़ती, हँसती, उबलती आग चारों ओर से। दिनकर

युद्ध के संक्रामक होने के कारण एक कोई ऐसा युद्धोत्पादक कार्य हो गया तो उसके विस्तारक अनेक कारण उठ खड़े होते हैं। जिससे युद्ध के फैलने में देर नहीं लगती। यह यथार्थ है। इसमें आग के फैलने की क्रिया को दौड़ती, हँसती कहा गया है। फैलने की बात को दौड़ती कहते हैं तो उसकी गति हमारे सामने इस रूप में आती है जैसे कोई भागता हो। जब उसको हँसती कहते हैं तो उसका धधकना प्रत्यक्ष हो जाता है और

उबलती कहते हैं तो उसकी विकरालता सामने आ जाती है। तीनों क्रियायें बाधित हैं पर लक्षणा की महिमा से इनकी संगति हो जाती है। ग्राह्य रूप में वे क्रियायें अपनी मूर्ति खड़ी कर देती हैं।

यहाँ रूपकातिशयोक्ति है। युद्धोत्पादक कारण के लिये चिनगारी, विस्तारक कारणों के स्थान पर उनचास पवन और युद्ध के लिये आग शब्द आया है।

लाज की मादक सुरा सी लालिमा फैल गालों में नवीन गुलाब से,
छलकती थी बाढ़-सी सौन्दर्य की अधखुले सस्मित गढ़ों से सीप से। पंत

जब किसी पात्र में अधिकाधिक पानी भर जाता है तो और न भरने के कारण छलक पड़ता है। जब गुलाबी गालों पर स्मिति की चाँदनी छिटक जाती है तब गालों में गढ़े-से हो जाते हैं। उन सीप से गढ़ों में लालिमा अँटती नहीं, छलकती है। इस छलकती क्रिया से कवि गुलाबी गाल की लाली को अधिकाधिक व्यक्त करने की चेष्टा करता है। गुलाबी गालों पर स्मिति की स्वच्छता है तो सौन्दर्य की बाढ़ होने में क्या सन्देह है! इसीसे लालिमा को लाज की मादक-सुरा कहा गया है। वे-लाल गाल भी लाज से लाल हो उठते हैं और वह लाज सुरा की मादकता से भरी हो तो उसकी ललाई का क्या कहना! ऐसी अप्रस्तुत योजनाओं से असामान्य तथा अनुपम लालिमा गालों के गढ़ों से छलक पड़े तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यहाँ की छलकना क्रिया गुलाबी गालों की लालिमा को हृदयग्राही भाव से ग्राह्य रूप में उपस्थित करती है।

ऐसे ही चूमना, खिलना, रोना, खुलना, गाना, बहना, बुझना, नाचना, हरा होना, अँधेरा होना, पीला पड़ना आदि क्रियायें हैं जिनके लाक्षणिक अर्थ वर्णनीय वस्तु वा भाव का मूर्त रूप खड़ा कर देते हैं। कुछ ऐसी लाक्षणिक क्रियायें हैं जिनसे कोई चित्र या मूर्त रूप खड़ा नहीं होता, पर उनके लाक्षणिक प्रयोग होते हैं।- जैसे 'बनाना' का अर्थ रचना करना होता है पर किसी को जब मूर्ख या बुद्ध सिद्ध करना चाहते हैं तो वहाँ भी बनाना का प्रयोग करते हैं। ऐसी ही जागना आदि क्रियायें भी हैं।

उन्नीसवाँ रंग—भाषा में लक्षणा—२ विशेष्य वा संज्ञा

विशेष्यों वा शब्दों का भी लाक्षणिक प्रयोग होता है। लक्षणा से उनके अभीप्सित अर्थ किये जाते हैं। जैसे,

आज मरण के कूल कूल पर लगते भूख अन्न के नारे
आज ठठरियों के क्रन्दन में कैसे मूक रहें अंगारे। अंचल

इसमें ठठरियाँ दुर्बल देह किसानों के लिये, क्रन्दन दुःखगाथा के लिये और अंगारे ज्वलन्त भाव वा विचार के लिये आये हैं। ठठरियों में मांस या चर्म नाम को नहीं रहता। यह शब्द अपनी उपादान लक्षणा से कृशकलेवर कृषकों वा बुभुक्षितों का वह चित्र उपस्थित करता है कि सहृदयों के हृदय करुणा से उमड़ पड़ते हैं। जब वे अपनी दर्दभरी कहानियाँ सुनाने लगते हैं तब क्या उनका हृदय स्वस्थ रहता है? नहीं, रोता रहता है। वह क्रन्दन के सिवा दूसरा कुछ नहीं होता। उस क्रन्दन में उद्वेग—उबाल होता है। उनके विचार दबाये नहीं दबते। उनमें उनकी दहकती अन्तर्ज्वाला फूट पड़ती है। उनकी आँच औरों को लगती है। ऐसे वचन अंगारों की समता कैसे न करें! ये तीनों लाक्षणिक शब्द बुभुक्षितों के जो गोचर रूप प्रत्यक्ष कराते हैं उनकी वेदना-विमिश्रित अन्तर्ज्वाला व्यक्त करते हैं। क्या उसका वाच्यार्थ से प्रत्यक्ष होना कभी संभव है?

इस प्रकार वंशी, वीणा, स्वप्न, दीपक, तार, आग, मरु, मरीचिका, मधु, अंधकार, प्रातः, ऊषा, मणि, काँटा, आँधी आदि अनेकों शब्द लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं।

जहाँ कहीं ऐसे शब्दों से प्रतीक का भी काम लिया जा रहा है।

लिख पायी सत्ता के उर पर जीभ नहीं जो गाथा,
विशिख लेखनी से लिखने में उसे कहाँ उठ पाता। दिनकर

... लेखनी की तीक्ष्णता का परिचय कराता है। यहाँ 'विशिख' शब्द ... से. वाद-विवाद इससे चुभते हुए लेख का भाव झलकता है। कवि कथन ... से और व्याख्यान से जो न कह सका, वक्तव्य की खलती हुई यथार्थता ... व्यक्त न कर सका उस सत्य के कटु कथन की शक्ति को तौलना चाहता है। यह विशिख लेखनी में अपनी तीक्ष्णता की शक्ति को दे रहा है। कवि की लेखनी की करामात बाण-सी बिंध जानेवाली चोखी और अनोखी है।

किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिये हुए किसके समीप,
मुक्तालोकित ज्यों रजतसीप। पंत

आकांक्षायें अनन्त हैं। उनका उत्थान-पतन निरन्तर होता रहता है। 'जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत'। इच्छायें भली भी होती हैं और बुरी भी। स्वर्ण सुन्दर होता है और खुशरंग भी। मूल्य भी उसका कम नहीं होता। यहाँ स्वर्ण लक्षणा से अपना अर्थ देता है—सुन्दर, प्रशंसनीय, मूल्यवान। सोने की इच्छायें यही भाव रखती हैं। ऐसा ही रजतसीप भी है। रजत का चमकीलापन तथा स्वच्छता सराहनीय है। सीप, सीप नहीं, जैसे रजत का बना हो। रजत के समान चमकदार तथा विशद सीप है।

इन दोनों 'विशिख लेखनी' तथा 'स्वर्णाकांक्षा में वाचक-धर्मलुप्तोपमा से भी यह अर्थ कर सकते हैं विशिख 'सी' 'तीक्ष्ण' लेखनी तथा स्वर्ण 'सी' 'भास्वर' आकांक्षा।

बीसवाँ रंग—भाषा में लक्षणा—२ विशेषण

आधुनिक कविता की विशेषता है विशेषणों की लाक्षणिकता। ऐसे भाव-व्यञ्जक, चित्रमय और स्वरूपाधायक विशेषण प्राचीन ही नहीं, नवनिर्मित भी हैं। उनके प्रयोग भी नूतन और चमत्कारक हैं। बिंबविधायक होने से सहज ही ग्राह्य हो जाते हैं। जैसे,

जीवन के सुखदुख से सुरभित कितने काव्य कुसुम सुकुमार। पंत

काव्यकुसुम रूपक में सुरभित विशेषण सार्थक है। यहाँ सुरभित होने के कारण सुखदुःख है। सुखदुःख से आदमी सुखी और दुःखी होता है, सुगन्धित नहीं। इस सुरभित का लक्ष्यार्थ होता है कि काव्यकुसुम में सुखदुख के ऐसे हृदयहारी भाव हैं जो सौरभ के समान ही मन को प्रसन्न और प्रफुल्ल करनेवाले हैं। यहाँ कोई बिम्बाधान नहीं होता।

इधर उपेक्षामय यौवन का बहता भीतर मधुमय स्रोत : प्रसाद

स्रोत का अर्थ है धारा; यहाँ स्रोत का [illegible]
मधुमय होता [illegible] होता है गति। वह तो [illegible]। यौवनकाल में माधुर्य की प्रबलता दीख पड़ती है। सुख [illegible] स्वप्न बहुत दीख पड़ते हैं। इच्छायें भी रंगीन हो जाती हैं। सारांश यह कि प्रबल यौवनकाल माधुर्य रस से ओतप्रोत रहता है। इसी भाव को मधुमय विशेषण व्यक्त करता है। छायावादी कवियों ने इस विशेषण को ऐसा अपनाया है कि उनके काव्यों में इसकी उद्धरणी-सी दीख पड़ती है। इसमें साधारण चित्र की झलक पायी जाती है।

ऐसे ही 'अलसाई छाँह, सिहराई कंपन, ललचायी पलक, अलसित

पलक, प्रज्वलित ललकार, निद्रित स्वप्न, विस्मित अधर, पुनीत स्वप्न, अवखिले भाव आदि विशेषण हैं।

एक दुखान्त कथा कहती थी निज प्यासे अंगों से काया। अंचल

अंग तो प्यासे नहीं होते, पर उनकी तृष्णायें होती हैं। मुँह चाहता है कि बढ़िया चीजें खाऊँ, नाक को अच्छी चीजें सूँघने की चाह होती है, कान मधुर शब्द सुनने चाहते हैं, आँखें सुन्दर वस्तुयें देखना चाहती हैं। ऐसे ही और-और अंग भी अपनी-अपनी साध मिटाना चाहते हैं। इनकी ये कामनायें ही तो प्यास हैं। तृष्णार्त पानी पीना चाहता है, वैसे ही अपनी साध रखनेवाले अंग भी तृष्णार्त हैं। यहां तृष्णा प्रकट करनेवाला अंगों का प्यासा विशेषण है। यहाँ प्यासे विशेषण से प्यासे की छटपटाहट का रूप खड़ा हो जाता है।

प्रकृति के व्यापारों को लेकर भी ऐसे लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं जिनसे भाव निखर आता है और उसका मूर्तविधान हो जाता है।

अभी पल्लवित हुआ था स्नेह लाज का भी न गया था राग। पंत

आम का अमोला जब उग आता है तब उसमें पल्लव निकलते हैं और आम के अस्तित्व का आरंभ होता है। गुठली की डंटी में पल्लव का फूटना उसके जीवन के विकास का सूत्रपात समझा जाता है। स्नेह के पल्लवित होने से स्नेहारंभ की सूचना मिलती है। इसी प्रकार प्राकृत व्यापार पर 'मंजरित यौवन' 'मुकुलित अंग' 'कुसुमित आशा' आदि विशेषण बने हुए हैं।

कविता में क्रियावाचक विशेषण तो और भी कमाल करते हैं। उनसे विशेष्यों की क्रिया मूर्त रूप में सामने आ जाती है। जैसे,

—— —— ——

... ललचाई पलकों पर पहरा जब था व्रीड़ा का। महादेवी

पलकें उठ नहीं पातीं। इधर-उधर आँखें ताक-झाँक नहीं कर सकतीं। लाज के मारे झुकी हुई हैं। चाहती हैं कि जरा देख लूँ पर कड़े पहरे में देख नहीं पातीं। इस दशा में ललचाई विशेषण पलकों की वह अवस्था प्रकट कर देता है जिससे उनकी विकलता सामने खड़ी हो जाती है।

ऐसे ही 'सिसकते मानस', 'थिरकते रोम', अँगड़ाते तम, हँसती पीड़ा आदि विशेषण हैं।

कतिपय अप्रस्तुतयोजनाओं का रूप विशेषण सा ही होता है। विशेषण जैसे विशेष्य की विशेषता प्रकट करते हैं वैसे ये भी। इनमें भिन्नता

यह है कि विशेषण प्रत्यक्ष रूप से विशेष्य का गुण वर्णन करते हैं और ये रूपक के रूप में आरोपित होते हैं। विशेषण रूप में अप्रस्तुतयोजना—

हम सागर के धवल हास हैं, जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव, वारि वसन, वसुधा के मूल,
नभ में अवनि, अवनि में अंबर, सलिल भस्म मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल, दिन के तम पावक के तूल। पंत

बादल की ये अप्रस्तुतयोजनायें हैं। सागर के जल कण से ही बादल बनते हैं और उनका रंग श्वेत ही होता है। इस दशा में बादल को सागर का उज्ज्वल हास कहना बादल की एक विशेषता ही प्रकट करता है। वाष्प के रूप में बादल को जल का धूम, आकाश में उड़ने के कारण बादल गगन की धूल हो सकता है। बादल के निर्माण में हवा का भी योग है। फेन के मूल में हवा है ही। फिर वह हवा का फेन कहा ही जा सकता है। प्रातःकाल में सूर्य की किरणें जब बादल में प्रवेश करती हैं तब उनका रंग लाल हो जाता है। फिर उसको ऊषा का पल्लव कहना संगत ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार सभी अप्रस्तुतयोजनाओं को बादल की विशेषता बताने के कारण विशेषण ही कहा जा सकता है।

ओ चिन्ता की पहली रेखा, अरी विश्व वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण, प्रथम कंप-सी मतवाली।
हे अभाव की चपल बालिके री ललाट की खल लेखा,
हरी भरी-सी दौड़-धूप ओ जलमाला की चल रेखा। प्रसाद

'चिन्ता' की ये अप्रस्तुतयोजनायें हैं। सर्पिणी जिस प्रकार अपनी [illegible] मार डालती है उसी प्रकार चिन्ता भी [illegible]

संसार में संसारियों को घुला-घुलाकर मार डालती है। कहना यह है कि चिन्ता सर्पिणी के समान घातक गुण रखनेवाली है। वह चिन्ता अभाव ही से उत्पन्न होती है। इससे उसे अभाव की चंचल कन्या कहना बड़ा ही सार्थक है। यह प्रतिदिन का अनुभूत विषय है। जहाँ किसी वस्तु का अभाव हुआ कि चिन्ता पैठी। चिन्ता को अभाव-प्रसूता बताना बहुत दूर की अनुभूत कल्पना है। अभाव की स्मृति चिन्ता का कारण है। इससे कवि अपना पीछा छुड़ाने के लिये ही विस्मृति का आवाहन करते हुए कहता है।

विस्मृति का अवसाद घेर ले नीरवते बस चुप कर दे।

ललाट पर ही विधिलिपि अंकित होती है, यह प्रसिद्ध है। यह चिन्ता

ललाट की बड़ी दुष्ट लेखा है। कल्पना की या शास्त्र की लेखा की बात जाने दीजिये। जब चिन्ता मन में उठती है तब ललाट पर सिकुड़नें पड़ जाती हैं। कोई भी उस सिकुड़न को, खिंची हुई सीधी लकीर को देखकर कह सकता है कि यह व्यक्ति चिन्ताग्रस्त है। ललाट पर लिखी चिन्ता की भाषा ऐसी ही होती है कि वह अपना रूप आप प्रकट कर देती है। बहुतों ने ऐसी अप्रस्तुतयोजनाओं को विशेषण की ही संज्ञा दी है।

आधुनिक कविता में उपमानभूत—अप्रस्तुतयोजना सचित्र तो होती ही है जैसी कि आँधी के लिये 'बिजली की दिवारात्रि' वैसी ही भावुकतापूर्ण भी होती है जैसे, 'भूले हृदय की खोज'। एक साथी के लिये व्याकुल मन ने श्रद्धा को देखकर उसे हृदय की खोज ही कह डाला अर्थात् जो चाहता था सो मिल गया। कल्पना-प्रधान अप्रस्तुतयोजनाओं का कोई ओर-छोर ही नहीं।

इक्कीसवाँ रंग—भाषा में लक्षणा—४ वाक्य

विशेष्य, विशेषण और क्रिया के समान ही वाक्य का भी लाक्षणिक अर्थ होता है। ऐसे वाक्यों में विशेष्य, विशेषण और क्रिया के ही पद रहते हैं पर उनका अर्थ वाक्य में ही प्रादुर्भूत होता है। जैसे,

तरंगों में डूबे दो कुमुदों पर हँसता था एक कलाधर। निराला

अर्थ है दिन में भी तरंगों में डूबे हुए दो कुमुदों पर एक कलाधर—चन्द्रमा हँसता था। डूबे कुमुदों में द्विवचन और हँसते चन्द्रमा में एक वचन, कुछ अर्थ रखते हैं। लक्ष्यार्थ है (उस नायिका के) तरंगों में डूबे हुए, दो उरोज और उनपर खिला हुआ उसका मुखड़ा। इससे वयःसन्धि की अवस्था में कुमुदोपम उरोजों को देखकर प्रसन्न होने की विशेषता और मुख में सुकुमारता, मधुरता तथा सुन्दरता लक्षित होती है। यह लक्षणा समूचे वाक्य में है।

गुलालों से रवि का पथ लीप जला पश्चिम में पहला दीप,
विहँसती संध्या भरी सुहाग दृगों से झरता स्वर्णपराग।

—महादेवी

इस पद्य का अर्थ स्पष्ट है पर जो अर्थ इससे निकलता है यथार्थतः वह अर्थ यहाँ अभीष्ट नहीं। क्योंकि एक तो ऐसा अर्थ करने से कोई भाव नहीं झलकता। दूसरे अनेक अर्थ-बाधायें हैं। गुलाल से पथ लीपा नहीं जाता। यहाँ गुलालों के बहुवचन का शास्त्रार्थ छोड़िये। सूर्य के पथ का लीपना तो संभव ही नहीं। सन्ध्या कोई स्त्री नहीं कि वह लीपने का काम करके हँसेगी, उससे यह काम पूरा होगा या नहीं, यह तो आगे की बात है। अतः इसका लाक्षणिक अर्थ होता है कि अस्तोन्मुख सूर्य की लाली चारों ओर फैल गयी है। प्रफुल्लित सन्ध्या से अरुण किरणें फूट रही हैं। इसमें सन्ध्याकालीन रश्मि आभा का वर्णन है। वर्णन में जो कला-कुशलता है वह लक्षणा की ही महिमा है। इससे सन्ध्या का एक रूप ग्राह्य रूप में खड़ा हो जाता है।

तुम्हारे छूने में था प्राण संग में पावन गंगास्नान,
तुम्हारी वाणी में कल्याणि त्रिवेणी की लहरों का गान। पंत

पहली पंक्ति का अर्थ है कि स्पर्श में प्राण अर्थात् जीवनी शक्ति के संचार की सामर्थ्य थी। तुम्हारे स्पर्श से मृतप्राय भी सचेत हो उठता था। वह स्पर्श स्पर्श नहीं, प्राण फूँक देनेवाला था। दूसरे चरण का अर्थ है तुम्हारा संसर्ग वैसा ही पवित्र कर देता था, शुद्ध कर देता था और शान्ति तथा शीतलता ला देता था जैसे गंगा का स्नान स्नानकर्त्ता को शुद्ध, शान्त, शीतल तथा पवित्र कर देता है। उत्तरार्द्ध का अर्थ होता है कि तुम्हारी वाणी में वह माधुर्य है, वह सरसता है, वह कोमलता है और वह हरहर मरमर करुण कोमल ध्वनि है जो त्रिवेणी की लहरों में अनुभूत और श्रुतिगोचर होती है। यद्यपि इस वर्णन से सुकुमारी के स्पर्श, संग और वाणी के गोचर रूप नहीं खड़े होते पर लाक्षणिकता ने ग्राह्य रूप में अवश्य उन्हें बना दिया है।

विद्युत् के चल स्वर्णपाश में बँध हँस देता रोता जलधर,
अपने मृदु मानस की ज्वाला गीतों से नहलाता सागर;
दिन निशि को देती निशि दिन को रजत-कनक के मधु प्याले हैं।
—महादेवी

स्वर्णपाश में पदगत, रोता में विशेषणगत, हँस देता में क्रियागत और सागर ज्वाला गीतों से नहलाता में वाक्यगत लक्षणा है।

प्रिय के आने की आशा में रोता हुआ अर्थात् कुछ करुण शब्द

करता और अश्रु कण समान फुहियाँ गिराता जलधर स्वर्णपाश में बँधा अर्थात् विद्युत् की स्वर्णाभा से भासित उत्फुल्ल मालूम हो रहा है। समुद्र की उठती-गिरती लहरों से जो ध्वनि उठती है उसमें कुछ हाहाकार-सा भरा रहता है। इससे उसकी ध्वनि को ज्वाला-गीत कहना अनुचित नहीं। हम उसकी व्यापक गंभीर ध्वनि को सुनते ही नहीं, अपने सब अंगों से अनुभव करते हैं। इससे नहलाता की भी सार्थकता है और अर्थ बाधित नहीं होता। दिन का प्रकाश और रात की चाँदनी को सोने-चाँदी की तुलना अप्रतिम है। उनमें मद की प्याली का आरोप उनकी मादक आनन्ददायकता सिद्ध करता है। कविता के भाव को लक्षणा की जादूभरी लकड़ी ने छूकर ऐसा सजीव बना दिया है कि सचमुच प्रियागमन की प्रत्याशा में प्रकृति थिरकने लगी है।

बाईसवाँ रंग—भाषा में लक्षणा—५ प्रकार

लाक्षणिक प्रयोगों पर ध्यान देने से विदित होता है कि आजकल जिन रूपों में वे प्रयुक्त होते हैं उनके अनेक प्रकार हैं। कुछ का उल्लेख किया जाता है।

(१) प्रतीकों के स्वरूप में—

(क) इन हीरक के तारों को कर चूर बनाया प्याला,
पीड़ा का सार मिलाकर प्राणों का आसव ढाला। महादेवी

इसमें तारे लौकिक भावों के प्रतीक के रूप में आये हैं।

(ख) झंझा झकोर गर्जन था बिजली थी नीरदमाला,
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला। प्रसाद

इसमें भावों के उमड़ने अथवा संघर्ष के लिये झंझा, वेदना की अनुभूति के लिये 'बिजली' और आँसुओं के लिये नीरदमाला प्रतीक रूप में आये हैं। भावना की प्रबलता वा प्रचुरता के लिये आँधी भी और टीस वा पीड़ा के लिये भी प्रतीक रूप में बिजली लायी जाती है।

(ग) उषा का था उर में आवास मुकुल का मुख में मृदुल विकास,
चाँदनी का स्वभाव में भास विचारों में बच्चों की साँस। पंत

इसमें 'उषा' पवित्रता, जागृति और भावना का, 'मुकुल' निर्विकारता, चाँदनी मृदुलता तथा बच्चों की साँस अबोधता और निश्छलता के प्रतीक हैं।

(२) साम्य के रूप में—

(क) मधु मंगल की वर्षा होती काँटों ने भी पहना मोती,
जिसे बटोर रही थी रोती आशा, समझ मिला अपना धन।
—प्रसाद

कठोर हृदय की समता काँटों से की गयी है। मोती के समान उज्ज्वल अश्रु बिन्दु होते हैं। यहाँ समता का आधार यही है।

दुख के लिये भी काँटे का प्रतीक आता है। जैसे—

मुझ को काँटे ही मिलें धन्य। (दुःख)
हो सफल तुम्हें ही कुसुमकुंज (सुख)

पंत भी 'कुटिल काँटे हैं कहाँ कठोर' कहते हैं।

वह मृदु मुकुलों के मुख में भरती मोती के चुंबन,
लहरों के चल करतल में चाँदी के चंचल उडुगन। पंत

चाँदनी का मुकुलों पर पड़ना मोती के संसर्ग-सा स्वच्छ उद्भासित होता है। लहरों में उडुगण अपनी स्वच्छता से चाँदी के बने हुए मालूम होते हैं। यहाँ स्वच्छता, प्रशस्तता तथा उज्ज्वलता के साम्य पर ही लक्षणा टिकी हुई है।

(३) मूर्त के लिये अमूर्त के रूप में—

जब विमूर्च्छित नींद से था मैं जगा
(कौन जाने किस तरह) पीयूष सा
एक कोमल समव्यथित निःश्वास था
पुनर्जीवन सा मुझे तब दे रहा। पंत

कवि ने यहाँ नायिका को 'समव्यथित निःश्वास' का रूप दे डाला। श्वास की गति की तीव्रता से ही कवि ने मूर्त को अमूर्त रूप में उपस्थित किया। पुनर्जीवनदान के लिये निःश्वास से बढ़कर क्या हो सकता है। वह भी समव्यथित।

करुण भौंहों में था आकाश हास में शैशव का संसार,
तुम्हारी आँखों में कर वास प्रेम ने पाया था आकार। पंत

कल्याणी की भौंहों में उच्चता की झलक थी, यह न कहकर आकाश ही कह दिया गया। उसकी हँसी निष्कलुष थी, सांसारिक वातावरण से विशुद्ध थी, यह न कहकर शैशव का संसार कह दिया। क्योंकि उनकी दुनिया

छलछिद्रवाली नहीं होती। इसमें आकाश शुद्ध प्रतीक है और शैशव का संसार लाक्षणिक प्रतीक कहा जा सकता है।

> मधुर विश्रान्त और एकान्त जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
> एक करुणामय सुन्दर मौन और चंचल मन का आलस्य। प्रसाद

इसमें श्रद्धा के लिये रहस्य, मौन तथा आलस्य भाववाचक संज्ञा, लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। रहस्य उलझन भरा होता है पर कामायनी प्रत्यक्ष रूप में होने से सुलझी हुई है। श्रद्धा करुणामयी और सुन्दरी है यद्यपि वह मौन है। आलस्य चंचल मन की गति की स्थिरता प्रकट करता है। अर्थात् कामायनी को प्राप्त करके चंचल मन भी स्थिर हो जाता है।

(४) आधार के लिये आधेय के रूप में—

> मर्म पीड़ा का है हास!
> रोग का है उपचार; पाप का भी परिहार। पंत

प्रथम पंक्ति का अर्थ है 'पीड़ित मन'। इसमें मन ही आधार है पर उसके लिये पीड़ा का हास आधेय ही कहा गया है। ऐसे ही

> सिद्धि का गूढ़ हुलास
> बीनते हैं प्रसून दल; तोड़ते ही हैं मृदु फूल। पंत

यहाँ भी प्रसन्न मन के लिये गूढ़ हुलास आधेय ही उक्त है।

> चाँदनी रात का प्रथम प्रहर हम चले नाव लेकर सत्वर,
> सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही बिखर। पंत

चाँदनी रात की चाँदनी में सिकता मोती की उज्ज्वलता की तरह चमक रही है। यही दूसरी पंक्ति में आधाराधेय के रूप में कही गयी है।

(५) मानवीकरण के रूप में—

जब कवि निर्जीव वस्तुओं के वर्णन या सूक्ष्म भावों की गंभीर अभिव्यञ्जना में उन पदों का प्रयोग करता है जिनका प्रयोग सजीव प्राणी या मनुष्य के सम्बन्ध में किया जाता है तब उसका उद्देश्य मानवीकरण होता है। इससे उसमें मूर्त प्रत्यक्षीकरण की योग्यता और प्रभविष्णुता बढ़ जाती है।

> धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी,
> तारकमय नववेणी बंधन शीश फूल कर शशि का नूतन
> रश्मिवलय सित नव अवगुंठन
> मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी। महादेवी

इसमें वसन्तरजनी एक नायिका के रूप में चित्रित की गयी है और इससे उसका मूर्त प्रत्यक्षीकरण हो जाता है।

है विषाद का राज तड़पता बन्दी बनकर सुख मेरा
कैसे मूर्च्छित उत्कंठा की दारुण प्यास बुझाऊँगा। द्विज

यहाँ विषाद के राज्य में कवि के सुख का बन्दी होकर तड़पना और उत्कंठा—उच्छ्वसित अभिलाषा का मूर्च्छित होना और उसको प्यासी बनाना जो प्राणी में ही संभव है, मानवीकरण है। सारांश यह कि विषाद में सुख विवश हो तो उत्कंठा की पूर्ति असंभव है।

मेखलाकार पर्वत अपार अपने सहस्र दृग सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार-बार नीचे जल में निज महाकार। पंत

पर्वत भी अपने सहस्रों दृगों से अपना अपार आकार दर्पण-से फैले विशाल ताल में देख रहा है।

उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ कुटिल काल के जालों-सी
चली आ रहीं फेन उगलतीं फन फैलाये व्यालों-सी। प्रसाद

लहरियों का गरजना, उगलना और चली आना मानवीकरण है।

(६) विशेषण-विपर्यय के रूप में—

कुसुमित कुंजों में वे पुलकित प्रेमालिंगन हुए विलीन,
मौन हुई हैं मूर्च्छित तानें और न सुन पड़ती अब बीन। प्रसाद

तानें मूर्च्छित नहीं होतीं। तान लेनेवालों अर्थात् गानेवालों के मूर्च्छित होने से तानें भी मूर्च्छित हैं।

वेदी की निर्मम प्रसन्नता पशु की कातर वाणी
मिलकर वातावरण बना था कोई कुत्सित प्राणी। प्रसाद

प्रसन्नता निर्मम नहीं होती। इसमें निर्दयतापूर्वक की गयी बलि से प्रसन्न बलिकर्ता का ही चित्र उपस्थित किया गया है।

अकेली आकुलता-सी प्राण कहीं तब करती मृदु आघात।

यहाँ अकेली आकुलता का अर्थ अकेलेपन की आकुलता लिया गया है।

चल चरणों का व्याकुल पनघट कहाँ आज वह वृंदाधाम। निराला

यहाँ चंचल चरणवाली गोपिकाओं की व्याकुलता का भाव लिया गया है। क्योंकि निर्जीव पनघट व्याकुल नहीं होता।

आशा की उलझी अलकों से उठी लहर मधुगंध अधीर

लहर अधीर नहीं होती पर अधीर कर देती है। अर्थात् अधीर करनेवाली लहर उठी।

(७) कार्य-कारण के रूप में—

यही तो है बचपन का हास खिले यौवन का मधुर विलास,
प्रौढ़ता का वह बुद्धि-विकास जरा का अन्तर्नयन प्रकाश,
जन्म दिन का है यही हुलास मृत्यु का यही दीर्घ निःश्वास। पंत

इसमें एक प्रेम ही कारण है, जिसके अवस्था विशेष में कार्य दिखाई पड़ते हैं। इससे यहाँ की लक्षणा कार्य-कारण-रूप में है।

कैसे कहती हो सपना है अलि उस मूक मिलन की बात।
भरे हुए अब तक फूलों में मेरे आँसू उनके हास। महादेवी

फूलों में विकास है, प्रसन्नता है, उत्फुल्लता है और हैं ओस की बूँदें। यह अर्थसिद्धि लक्षणा से होती है। इसका मूक मिलन कारण रूप से है। इसमें भी कार्यकारण लक्षित होता है।

(८) व्यंग्यव्यंजक के रूप में—

अरी वरुणा की शान्त कछार! तपस्वी के विराग के प्यार।
सतत व्याकुलता के विश्राम, अरे ऋषियों के कानन कुंज।
जगत नश्वरता के लघु त्राण, लता-पादप-सुमनों के पुंज! प्रसाद

मूलगन्धकुटी विहार के उपलक्ष में लिखी गयी इस कविता से सारनाथ की पवित्रता, तपोभूमि की योग्यता, एकान्तता तथा शान्ति, क्षान्ति और क्रान्ति की संमिश्रित स्वरूपता ध्वनित होती है।

कल्पना में है कसकती वेदना अश्रु में जीता सिसकता गान है,
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं मधुर लय का क्या कहीं अवसान है।
पंत

सिसकता गान नहीं होता। यहाँ इससे दुखिया व्यक्ति की क्रन्दन-पूर्ण कारुणिक कथा व्यंजित होती है। विपन्न व्यक्ति के आँसू ऐसे होते हैं जो अपनी करुण कथा सजीव भाषा में व्यक्त करते हैं। यहाँ विशेषण-विपर्यय अलंकार भी है।

(९) उपादान के रूप में—

सिर पर होती हरियाले आमों की मीठी-मीठी छाया,
नीचे तुमको पाकर सुख से भर-भर जाती मेरी काया। अंचल

आमों की अर्थात् आम्रफलों की छाया नहीं होती। यहाँ आम आम्र-वृक्षों का उपादान करता है। ऐसे ही

यौवन चलता सदा गर्व से सिर ताने शर खींचे,
झुकने लगता किन्तु, क्षीणबल वय विवेक के नीचे। दिनकर

यौवन नहीं चलता। यौवन नवयुवकों का उपादान करता है। सिर तानना और शर खींचना उन्हीं में संभव है। युवा ही सिर ताने चलते हैं। वय और विवेक के नीचे क्षीण बलवाले झुकने लगते हैं। विवेकशाली वयोवृद्ध ही क्षीण-बल होने के कारण नम्र बन जाते हैं। वय और विवेक वय, विवेकशाली व्यक्ति का यहाँ उपादान करते हैं। नवयुवक सदा युद्धोद्यत रहते हैं और वृद्ध सोचने-विचारने लगते हैं।

(१०) विरोधमूलक शब्दों के प्रयोग में

मणिदीपों के अन्धकारमय अरे निराशापूर्ण भविष्य। प्रसाद

मणिदीपों के प्रकाश में भी अन्धकार! यहाँ मणिदीप वैभव और विलास के प्रतीक हैं और अन्धकार है अज्ञान का प्रतीक। यहाँ लक्षणा-मूल यह अर्थ होता है कि वैभव-सम्पन्न और विलासी मनुष्य अपने मार्ग का ठीक-ठीक अनुसंधान नहीं कर सकता।

इनके अतिरिक्त अन्यान्य रूपों में भी लाक्षणिक प्रयोग होते हैं। उनके प्रकार की कोई सीमा नहीं बाँध सकता। क्योंकि कवि-प्रतिभा की थाह लगाना संभव नहीं।

तृतीय रूप

अप्रस्तुतयोजना का विचार

पहला रंग—अप्रस्तुतयोजना की मुख्यता

कह आये हैं कि अप्रस्तुतयोजना का रूप आलंकारिक होता है। सादृश्यमूलक अलंकारों में साम्य के लिये अप्रस्तुतों की योजना की जाती है और उनका रूप उपमान का होता है। ऐसे अलंकारों में दो की प्रधानता होती है। एक तो तुलनीय वस्तु की—उपमेय की और दूसरी तुलनात्मक वस्तु की—उपमान की। उपमेय और उपमान उपमा अलंकार में रूढ़-से हो गये हैं। इसीसे अप्रस्तुतयोजना शब्द चल पड़ा है।

अप्रस्तुतयोजना की बात सामने आने से दो-चार मुख्य अलंकारों पर हमारी दृष्टि जाती है। उपमा में उपमेय और उपमान सामने रहते हैं और इसमें उपमानांश लोकसिद्ध रहता है। दृष्टान्त आदि में भी यही बात है। उत्प्रेक्षा में यही उपमानांश लोक से असिद्ध, संभावनापर और कविकल्पित होता है।[1] इसमें उपमा जैसा उपमान सामने नहीं रहता, लाया जाता है और उपमेय अपने को अलग करता-सा प्रतीत होता है। रूपक में उपमेय और उपमान की एकरूपता प्रतिपादित होती है। उपमान उपमेय पर चढ़ बैठता है। यद्यपि वह रहता है पर दुर्बल हो जाता है। उसकी प्रमुखता नहीं रह जाती। अपह्नुति में उपमेय छिपा दिया जाता है और रूपकातिशयोक्ति में उपमान ही दोनों का स्थान ग्रहण कर लेता है। उपमान ही उपमेय का उद्बोधक बन जाता है।

---

१ यदायमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति।
तदोपमैव येनेव शब्दः साधर्म्यवाचकः।
यदा पुनरयं लोकादसिद्धः कविकल्पितः।
तदोत्प्रेक्षैव येनेव शब्दः संभावनापरः॥ उद्योत

इन्दीवर आँखें ये—
नींद में मुँदी हैं, या कि चन्द्रप्रभाधारी जो
कण्ठ में पड़ा है रत्नहार, विष्णु नाभि से
निकले मृणालदण्ड-सा जो, रविरश्मि-सा,
किंवा उस वासुकी के कंचुक-सा श्रम से
सिंधु के मथनकाल छूटा जो शरीर से
या कि जब पितृगृह सागर को छोड़ के
देवी इन्दिरा थीं चलीं, पति अनुराग में
आनन्दाश्रु उनके चले जो, बने रत्न थे,
निर्मित उन्हीं से रत्नहार यह। किरणें
फूटकर आनन पर फैलीं; रश्मिजाल को
सह नहीं पाते नेत्र बंद वे इसीसे हैं। ज० ना० मिश्र

इस उद्धरण में अलंकारों की संकीर्णता है। सहज ही पाठकों की समझ में न आ सकेंगे। इनकी दुरूहता मस्तिष्क पर जोर देने से ही दूर हो सकती है। ऐसी योजना स्वाभाविक नहीं होती और रसभंग का कारण होती है। अस्तु

इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह, अपह्नुति अलंकारों का संकर है। 'रविरश्मि-सा' उपमा है जो लोकसिद्ध उपमानांश है। 'वासुकी के कंचुक सा' में 'सा' उपमा का वाचक प्रतीत होता है पर यहाँ उत्प्रेक्षा है। क्योंकि समुद्र-मथन-काल में वासुकी के शरीर से छूटने की बात लोकसिद्ध नहीं, कवि-कल्पित है। ऐसी ही उत्प्रेक्षा इन्दिरा के अश्रु-विन्दुओं से बने रत्नों की और उनसे बने रत्नहार की कल्पना में भी है। नींद में मुँदी आँखों को रश्मिजाल को न सह पाने के कारण बंद बताया गया है। इस प्रकार प्रकृत को—उपमेय को निषेध करके अप्रकृत—उपमान के आरोप से अपह्नुति है अलंकार है। यहाँ का उपमेय-उपमान-भाव निराले ढंग का है। यहाँ उपमानोपमेय-भाव के अभाव में भी अपह्नुति कही जा सकती है। इसमें स्पष्ट देखिये—

हंस छहा! तेरा भी बिगड़ गया क्या विवेक बन बन के?
मोती नहीं, अरे ये आँसू हैं उर्मिला जन के।

इस भ्रान्तापह्नुति में आँसू और मोती का उपमानोपमेय भाव स्पष्ट है।

रूपक के अनेक रूपों में एक नया रूप यह है—

कुवलय की वृष्टि यथा हो रही शिविर में
रूपसी के नेत्र अनायास घूम जाते जो।

—ल० ना० मि०

यहाँ रूपसी के नेत्रों पर कुवलय—कमल की वृष्टि का आरोप है और इस प्रकार उपमेय पर उपमान की प्रधानता हो गयी है। यहाँ निषेध-आरोप के अभाव से अपह्नुति नहीं है।

वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलने को वर दो।
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष
उसकी शिरायें तोड़ो डालियाँ कतर दो। दिनकर

इसको पढ़ते ही क्या साम्यवादी, क्या समाजवादी और क्या अन्यवादी सहज ही यह समझ लेंगे कि पूँजीपतियों का विनाश नहीं तो पूँजीवादिता का विनाश करके शोषितों के पनपने और बढ़ने को मौका दिया जाना चाहिये।

कहने का अभिप्राय यह कि आलंकारिक योजना के मुख्य दोनों उपमेय और उपमानों में उपमान या अप्रस्तुतयोजना ही मुख्य है। यह काव्य के प्राण है, कला का मूल है और कवि की कसौटी है। यही काव्य में प्रभाव उत्पन्न करती है, प्रेषणीयता लाती है, भावों को विशद बनाती है और रसनीयता को वर्द्धित करती है। जो कविता अप्रस्तुतयोजना-शून्य होती है वह उतनी हृदयाकर्षक नहीं होती, अमन्द आनन्द के दान में समर्थ नहीं होती। अप्रस्तुतयोजना हीन रचना भी उच्च कविता की कोटि में आती है, यदि उसकी रसनीयता सर्वोपरि हो।

अप्रस्तुतयोजना या उपमान का लाना सहज-संभव नहीं। इसके लिये लोक-शास्त्र का निरीक्षण-परीक्षण ही पर्याप्त नहीं मान लेना चाहिये, बल्कि उसके मर्म-ग्रहण में निपुण होना आवश्यक है जिससे उसमें हृदय निचोड़ा जा सके। कवि जितना ही सहृदय होगा, जितना ही अनुभवी होगा, उतनी ही उसकी अप्रस्तुतयोजना मार्मिक होगी, हृदयग्राहिणी होगी और अपना उद्देश्य सिद्ध करने में समर्थ होगी।

———

दूसरा रंग—अप्रस्तुतयोजना के भेद

अप्रस्तुतयोजना वा उपमान के जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया, शक्ति और स्वभाव के भेद से अनेक भेद होते हैं[1]। कहीं जाति-जाति का, कहीं जाति-द्रव्य का और ऐसे ही उक्त द्रव्य, गुण आदि के एक-एक वा दो-तीन वा सभी के योग से इनमें वैचित्र्य लक्षित होता है। पर जहाँ जाति-जाति का और ऐसे ही गुण-गुण, द्रव्य-द्रव्य, आदि का योग होता है, अर्थात् इनका उपमानोपमेय भाव रहता है, वहाँ कविता का स्वारस्य बढ़ जाता है। कुछ ऐसे ही उदाहरण आगे दिये जाते हैं—

न जाने किस गृह में अनजान छिपी हो तुम स्वर्गीय विधान !
नवल कलिकाओं सी वाण बाल रति सी अनुपम असमान—
न जाने कौन, कहाँ, अनजान, प्रिये प्राणों की प्राण ! पंत

इनमें प्राणप्रिया उपमेय का बाल रति उपमान एकजातीय है। स्त्री-जाति तो है पर मनुष्य-जाति की नहीं है। वचन और लिङ्ग की भी समानता है। दूसरा उपमान 'नवल कलिका' एकजातीय नहीं और न इसमें वचन की समानता है। इससे यह प्रथम उपमान की समकक्षता नहीं कर सकता।

बाल भावुकता बीच नवीन परी सी धरती रूप अपार,
तुम्हारी मधुर मूर्ति छवि मान, लाज में लिपटी उषा समान। पंत

इसमें परी-सी स्त्री-जाति का उपमान है पर मनुष्य-जाति की नहीं। इस उपमान से कवि ने प्राणप्रिया को स्वर्गीय बनाकर उसके रूप-सौन्दर्य की पराकाष्ठा दिखला दी है। उषा का प्राकृतिक उपमान जाति से नहीं, लिंग की समता से भावोन्नयन के कारण अपनी सार्थकता सिद्ध कर रहा है।

शिशिर सा झर नयनों का नीर, झुलस देता गालों के फूल,
प्रणय का चुम्बन छोड़ अधीर अधर जाते अधरों को भूल। पंत

इसमें नीर द्रव्य उपमेय का शिशिर द्रव्य उपमान है। जल जाति के दोनो कहे जा सकते हैं। दोनों का साधर्म्य झरना क्रिया भी है। इसकी समता है। यह सब होते हुए भी द्रव्य का जो साम्य है, वही प्रबल है और वह काव्य-सुषमा को अनुपम रूप से बढ़ा रहा है। लिंग वचन का साम्य भी सोने में सुहागा है।

---

[1] एवं जातिगुणद्रव्यक्रियाशक्तिस्वभावतः।
एकैकद्वित्रिसामस्त्ययोगादस्य विचित्रता। साहित्यमीमांसा

सस्मित पुलकित नव परिमलमय इन्द्रधनुष-सा नवरंगों मय।
अग जग उनका, कण'कण उनका पल भर वे निर्मम मेरे हों।

—महादेवी

इसमें वे उपमेय वैसे नवरंगवाले हैं, जैसे इन्द्रधनुष। रंग गुण हैं। इसी अर्थ में उपमान द्रव्य हो सकता है। इन्द्रधनुष नवरंगी होता है। प्रेमपात्र नवरंगी होने से बड़े विचित्र दिखलायी पड़ेंगे। यहाँ इन्द्रधनुष-जैसे सुन्दर होने का भाव है। यदि लक्षणा से रंग का यह भाव लिया जाय कि नव-नव रूपवाले, नये-नये मनोरथवाले 'वे' हैं तो यहाँ गुणोपमा नहीं हो सकती। यदि 'वे' का नवरंगी सौन्दर्य की कल्पना है तो गुणोपमा है और उसकी सार्थकता भी। इसी में भावोद्‌बोधन की क्षमता है। यहाँ 'का-सा' एक वचन कुछ खटकता है।

पाये हैं इसने गुण सारे माँ सुमित्रा के
वैसा ही सेवा-भाव, वैसा ही आत्मत्याग,
वैसी ही सरलता, वैसी ही पवित्र कान्ति। निराला

दोनों के उपमेय उपमान एक प्रकार के होने से किसी प्रकार के वैषम्य का नाम नहीं। यह गुणसाम्य सर्वथा प्रशंसनीय है।

चिंता नहीं, फाड़ती है जिस भाँति मेघ को
छोटी-सी तड़िता तड़प के कड़क के
फाड़ हम देंगे इस काल-तुल्य मेघ को। वियोगी

इसमें उपमान और उपमेय दोनों के फाड़ने की क्रिया एक-सी है। ध्वन्यर्थव्यञ्जना से भी फाड़ने की क्रिया टपकती है।

ओ चिंता की पहली रेखा अरी विश्व वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कंप-सी मतवाली। प्रसाद

दूसरी पंक्ति का अर्थ है—अरी चिंते, तुम वैसी मतवाली हो जैसी ज्वालामुखी के विस्फोट के पूर्व भीषण कंप होता है। अभिप्राय यह कि ज्वाला-मुखी के कंपन से यह निश्चय हो जाता है कि अब भीषण विस्फोट होगा और धातु की मतवाली तरल नदी निकटवर्ती वस्तुओं को नष्ट-भ्रष्ट कर देगी वैसे ही चिन्ता भी मस्तिष्क में पैठकर तन मन घुलाती हुई भारी विपत्ति खड़ी कर देगी।

यहाँ का उपमान भीषण प्रथम कंप उपमेय चिंता की उग्र शक्ति का द्योतन ही नहीं करता बल्कि उसकी उग्रता को और भी बढ़ा देता है। इसी

से तो चिंता को चिता से अधिक कहा गया है। यह मनोविकार बड़ा प्रबल है। इसके परिणाम बड़े अनर्थकारी होते हैं। यहाँ लिंग-विपर्यय रस-बाधक नहीं है।

हीरे सा हृदय हमारा कुचला शिरीष कोमल ने
हिम शीतल प्रणय अनल बन अब लगा विरह से गलने। प्रसाद

प्रथम चरण का भाव यह कि मेरा हृदय हीरे के समान कठोर था पर कोमल रूप के दर्शन से वह मुलायम हो गया। कोमलांगी ने कठोर हृदय को भी स्निग्ध कर दिया। शिरीष कोमल पर सुकुमाराङ्गी का अध्यवसान है। हीरा कठिन होता है और शिरीष-कुसुम कोमल होता है। ये उनके गुण, उनके स्वभाव में घुल-मिल गये हैं। इस गुण-स्वभाव से इनका प्रतीकवत् भी प्रयोग होता है। मनुष्य कठिन भी होता है और कोमल भी। यह भी उनका स्वभाव-सा हो गया है। अतः यहाँ स्वभावतः इनका उपमानोपमेय भाव है। इसी से तो मनुष्य के—

जिन नयनों से करुणा की सुरधुनी दिव्य
फूट पड़ती है उन्हीं आँखों से प्रलय की
ज्वाला सर्वग्रासिनी विभासिनी भड़कती। वियोगी

संक्षेप में कहना यह है कि उपमेय और उपमान प्रस्तुत और अप्रस्तुत के खेल जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया, शक्ति, स्वभाव पर ही निर्भर है। इनके योग-वियोग से इन दोनों के अनेक प्रकार के भेद हो सकते हैं जिनका दिग्दर्शन पुस्तक के उदाहरणों में हो जायगा।

तीसरा रंग—अप्रस्तुतयोजना का औचित्य

अप्रस्तुतयोजना में इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि उपमेय और उपमान के व्यापार में कितना औचित्य है। जितना ही अधिक औचित्य होगा उतना ही उसका साम्य समर्थ होगा और कवि-कौशल प्रकट होगा। औचित्य काव्य-कलेवर का एक अनुपम अंग है।

धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली-सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना दूती-सी तुम कौन? प्रसाद

किरणें पृथ्वी पर आती हैं, ऊपर से नीचे की ओर झुकती हैं। प्रार्थना में भी नम्र होना पड़ता है, नीचे को झुकना पड़ता है। याचने की अपेक्षा

मनुष्य को हीन बनानेवाला कोई कार्य नहीं है। इसीसे किरणें प्रार्थना की-सी हैं। किरणें कुछ कहतीं नहीं; फिर भी मधुर हैं। मुरली मधुर होती है। जब उसमें फूँक पड़ती है, तब उसकी मधुरता व्यक्त होती है। नहीं तो वह मौन की मौन बनी रहती है। एक तो वेदना की दूती, दूसरे विकल। वेदना विकल दूती का मौन ही उसकी प्रार्थना को व्यक्त कर देता है। किरणें भी कुछ ऐसा ही अपना दौत्य कार्य मौन रहकर ही करना चाहती हैं। कवि ने इसमें बड़ी सहृदयता से व्यापारयोजना की है।

एक प्रिय दृग श्यामता-सा दूसरा स्मिति की विभा-सा,
यह नहीं निशि-दिन इन्हें प्रिय का मधुर उपहार रे कह। महादेवी

कवियित्री का कहना है कि ये रात-दिन नहीं हैं। इन्हें रात कह न तो इसकी उपेक्षा करनी चाहिये और न दिन कह उसकी अपेक्षा। क्या रात हो—घनान्धकार छाया हो और क्या दिन हो—उज्ज्वल आभा से आभासित हो। दोनों को एक-सा प्रिय का उपहार कहना चाहिये। क्योंकि इन दोनों में भी तो प्रिय का आभास है। इन्हें क्यों न प्रिय-प्रेम-पूरित समझा जाय। रात प्रिय के दृगों की श्यामता-सी है और दूसरा दिन वैसा ही है जैसा उनकी स्मिति की आभा है—प्रकाश है। उपहार बनाने का कैसा निराला ढंग है। अन्धकार और प्रकाश का सामञ्जस्यपूर्ण कैसी काव्योचित योजना है।

इसमें अलंकारों का भी कैसा चमत्कार है। 'सा' तो उपमा का बोधक है ही। निशदिन में क्रमालंकार भी है। क्योंकि श्याम के अनुसार पहले निश ही आया है। जब हम इन्हें प्रिय का उपहार कहते हैं, तब अपह्नुति भी झलक उठती है।

गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल,
है मूँद चुका अपने मृदुदल।
लहरों पर स्वर्णरेख सुन्दर पड़ गयी नील ज्यों अधरों पर—
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर। पंत

संध्याकाल में पहले तो लाल किरणें सुनहली होकर पड़ती हैं, और जब अन्धकार का प्रसार होता है तो नीली पड़ने लगती हैं। शीतकाल में अरुण अधरों की ललाई शीत की प्रबलता से झाँवर हो जाती है, नीली पड़ जाती है। दोनों में एक-सा व्यापार है। स्वभावतः ओठ जाड़े में नीले हो जाते हैं। फिर भी उसमें डरने की बात जोड़कर कवि ने अपनी कल्पना की अँगूठी में एक नग जड़ दिया है। कवि की यह काव्योचित-साम्ययोजना सहस्रमुख से प्रशंसनीय है।

यही कवि कभी-कभी अपनी कोमल भावना के वशीभूत हो कल्पना के समय अपने को भूल भी जाता है। साम्य के अनौचित्य का उदाहरण लें—

तापस बाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरें उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार तरल सुन्दर,
चंचल अंचल सा नीलाम्बर। पंत

गंगा तापस बाला-सी है। 'शशिमुख से दीपित मृदु करतल' से दोनों का कुछ व्यापार-साम्य है। कुछ इसलिये कि हम तापस बाला के मुख को शशि कहने में असमर्थ हैं। लहरें कोमल कुन्तल हों पर तपस्विनी के केश रुक्ष और जटिल होते हैं। वहाँ 'रेवा' साबुन और केशरंजन तेल फटकने नहीं पाते। तपस्विनी के अंग भले ही गोरे हों पर उनपर जरीदार साड़ी का चंचल अंचल नहीं लहराता। तरल नीलाम्बर गंगा के अंगों पर भले ही लहराये। इसमें व्यापार का साम्य नहीं। कोमल कल्पना के कल-कल में कवि रूपक के रूप को एक बार ही भूल गया है।

अभिप्राय यह है कि अप्रस्तुतयोजना में सब ओर से सावधान रहना चाहिये।

चौथा रंग—अप्रस्तुतयोजना की यथार्थता

अप्रस्तुतयोजना की यथार्थता तभी सम्भव है, जब कि उसका सादृश्य या तो स्वरूपबोधक हो या भावोत्तेजक।

जहाँ की अप्रस्तुतयोजना केवल स्वरूपबोधक मात्र रहती है, वहाँ सौन्दर्य नहीं रहता। इससे समानता रहने पर भी वह काव्यकोटि में नहीं आ सकती। भारत त्रिकोण-सा है, यह उपमा अलंकार के अन्तर्गत नहीं आ सकता। शुक्लजी कहते हैं "उपमा का उद्देश्य भावना को तीव्र करना ही होता है, किसी वस्तु का बोध या परिज्ञान कराना नहीं। बोध या परिज्ञान कराने के लिये भी एक वस्तु को दूसरी वस्तु के समान कह देते हैं। जैसे, जिसने हारमोनियम बाजा न देखा हो उससे कहना—'अजी! वह सन्दूक के समान होता है।' पर इस प्रकार की समानता उपमा नहीं।"

किन्तु जहाँ की अप्रस्तुतयोजना स्वरूप-बोधन के साथ सौन्दर्य-बोधक भी होती है वहाँ वह काव्यकोटि में आ सकती है और वहाँ उपमा अलंकार भी

माना जा सकता है। जैसे, लंका का आकार कमलकोरक-सा है। इसमें सभी सहृदय उपमा अलंकार की मर्यादा को अक्षुण्ण मानेंगे। क्योंकि, इसमें स्वरूपबोध के साथ सौन्दर्यबोध भी होता है। जैसे भारत माता के चरणों पर पुष्पोपहार समर्पित हो, आदि अनेकों भाव जागरित होते हैं। जब हम 'रामजी की माया कहीं धूप कहीं छाया' कहते हैं तब माया का स्वरूपबोध ही नहीं होता, भावोत्तेजन भी होता है। हम समझते हैं कि राम की ऐसी शक्ति है कि जहाँ जो चाहें कर सकते हैं। इसी से हम सुख दुख, हर्ष-विषाद, हानि-लाभ आदि के रहस्य को समझने की शक्ति प्राप्त करते हैं। धूप और छाया का भाव ही हमें राम की भक्ति करने की प्रेरणा देता है, उनकी ओर उन्मुख करता है।

इस स्वरूपबोध में रमणीयता आने से ही काव्यत्व की प्रतिष्ठा है, अन्यथा नहीं। किसी स्त्री को बिलखी—भले ही वह बिल्ली की आँख-सी आँखवाली हो—कहें तो भारतीय दृष्टिकोण से उसमें सौन्दर्य नहीं आ सकता। देशान्तर में भले ही ऐसी आँखें पसन्द की जायँ। हम तो किसी सुन्दरी को इन्दीवरनयनी कहना ही पसन्द करेंगे। एक दिग्गज कवि को यह ज्ञात था कि यश स्वच्छ होता है और उन्होंने यह योजना कर डाली।

> अस्थिवत् दधिवच्चैव कुष्टवत् पिष्टवत् तथा।
> राजन् तव यशो भाति वृद्धब्राह्मणश्मश्रुवत्॥

अर्थ स्पष्ट है। इसमें न तो सौन्दर्य है और न कवित्व। यहाँ की उपमायें खोगीर की भरतीमात्र हैं।

यह स्वरूपबोध अगोचर वस्तु को गोचर रूप देता है और ऐसे स्थानों में स्थूल—दृश्य वस्तु को साम्य के लिये सामने लाया जाता है। पर काव्य-कोटि में इसे नहीं ला सकते।

> मृत्यु अरी चिर निद्रे! तेरा अंक हिमानी-सा शीतल,
> तू अनन्त में लहर बनाती काल जलधि की-सी हलचल। प्रसाद

निद्रा की गोद शीतल है जैसी कि हिमानी—हिमसमूह। यहाँ की गोद बाह्य करणों से अलक्ष्य है। सदृश वस्तु—हिमानी की यथार्थ योजना से अगोचर वस्तु गोद के अत्यन्त शीतल होने का आभास मिल जाता है और अगोचर वस्तु एक प्रकार से गोचर हो जाती है। उत्तरार्द्ध में दोनों ही अगोचर हैं।

भावोत्तेजन में भी यह ध्यान देने योग्य है कि हम जिस अप्रस्तुत की

योजना करते हैं, वह कहाँ तक साम्य उपस्थित करता है। जिस भाव को कवि व्यक्त करना चाहता है उस भाव को उसी रूप से पाठकों के हृदय तक पहुँचाने में कहाँ तक समर्थ है। सारांश यह कि भाव के अनुरूप ही साम्य की योजना करनी चाहिये।

जब हम वीर के वीरोचित कृत्य के लिये तदनुरूप अप्रस्तुतयोजना करेंगे तभी उस भाषा की पुष्टि होगी। जैसे,

> देखते ही रौद्र मूर्ति वीर पृथ्वीराज की
> चीख उठा राजा ज्यों सहसा पथिक के
> सामने भयानक मृगेन्द्र कूदे काल-सा
> केशर खड़ा किये निकाले दंत क्रोध में। आर्यावर्त

यहाँ वीर रस के अनुरूप ही अप्रस्तुत की साम्य-योजना है। पृथ्वीराज की वही मूर्ति है, जो सिंह की है। क्या रसात्मक प्रसंग हो और क्या सामान्य, भाव की अभिव्यक्ति का ही लक्ष्य होना चाहिये।

वीर के लिये यदि यह कहा जाय कि 'वह बिडाल-सा झपटता है' तो इससे न तो भाव की पुष्टि होगी और न स्वरूप-संगठन में रमणीयता की। पर यही वाक्य किसी उचक्के के किसी चीज पर झपटने में—वेगयुक्त टूट पड़ने में प्रयुक्त हो तो इसकी कुछ सार्थकता हो सकती है। जहाँ केवल आकार, रूप, गुण, क्रिया आदि की न्यूनता या अधिकता को ही तीव्र करना होता है वहाँ ऐसी साम्ययोजना की जा सकती है। फिर भी काव्योपयुक्तता का ध्यान रखना आवश्यक है। अप्रस्तुतयोजना की यथार्थता इन्हीं बातों में है।

पाँचवाँ रंग—अप्रस्तुतयोजना की भाव-व्यञ्जकता

अप्रस्तुतयोजना तो भावव्यञ्जना के लिये ही की जाती है पर जिसमें नवीनता होती है, निरालापन होता है, वह विशेषतः सहृदयों को आह्लादित और चमत्कृत करती है और ऐसी ही भावव्यञ्जक अप्रस्तुतयोजना से कवि की अभिव्यक्ति की कुशलता आँकी जाती है।

> उषा की पहली लेखा कान्त माधुरी से भीगी भर मोद
> मदभरी जैसे उठे सलज्ज भोर की तारकद्युति की गोद। प्रसाद

मुसकान के वर्णन का प्रसंग है। कवि श्रद्धा के अधरों की मुसकान को मधुर, प्रसन्न, मस्त और सलज्ज होने की बात को जिस निराले ढंग से

कहता है, वह कविता में उक्त है। प्रातःकालीन ताराओं का प्रकाश शान्त प्रतीत होता है, उनमें रात के प्रकाश की तीव्रता नहीं रहती। यह वर्णन बतलाता है कि श्रद्धा के मुख पर शान्ति विराज रही थी। लेखा भी रम्य थी और मुस्कान की रमणीयता तो प्रत्यक्ष अनुभूत है। प्रातःकालीन होने के कारण किरणें मधुरता में सनी, प्रसन्नता से पूर्ण, मस्ती भरी और लाज की छुईमुई बनी हुई थीं। क्योंकि उषा की किरणों का सभी उपयोग करना चाहते हैं, उनमें आह्लादन की शक्ति रहती है, नयी उमंगें होती हैं, और प्रथम-प्रथम बाहर होने से उनका लजीली होना स्वाभाविक है।

मुसकान में ऐसी बातों का ही समावेश है, जिनसे वह मनु के उपभोग्य बन गयी है। वह मनु के सामने थी। इससे उसमें लज्जा की अवतारणा कवि की मार्मिकता द्योतित करती है। नवयौवन के कारण उसमें प्रसन्नता, मधुरता और मादकता का कहना ही क्या! यह यौवन का एक स्वाभाविक विभ्रम है।

यदि इस कविता के अर्थ को सीधे ढंग से कहा जाय तो ऐसे कहेंगे कि जैसी प्रातःकालीन तारों के शान्तोज्ज्वल प्रकाश की गोद में मधुरता में सनी, प्रसन्नता से परिपूर्ण, मदभरी और लज्जा से युक्त उषा की पहली लेखा (पहली आभा—प्रारम्भ की किरणें) उठती है वैसी ही श्रद्धा के शान्त मुख पर मधुर, प्रसन्न, मस्त और लजीली मुसकान फूट पड़ी।

इसमें 'जैसे' ही एक वाचक शब्द है जो उपमान और उपमेय के भाव को मन में जगाता है। इसमें उपमा की सीधी-सादी, नपी-तुली, बँधी-सधी योजना नहीं है जैसी कवि की इस योजना में है।

उस मृदुल शिरीष सुमन-सा मैं प्रात धूल में मिलता।

इस पद्य में यह ढंग नहीं अपनाया गया है। एक निराली योजना से भाव की अभिव्यक्ति हुई है। नवीनता से भावव्यंजना चमत्कारक हो गयी है।

अह! सुरा का बुलबुला यौवन धवल,
चन्द्रिका के अधर पर अटका हुआ।
हृदय को किस सूक्ष्मता के छोर तक,
जलद-सा है सहज ले जाता उड़ा। पंत

इसके पूर्वार्द्ध में यौवन के लिये दो अप्रस्तुतयोजनायें हैं। यहाँ वाचक शब्द भी नहीं है। बुलबुला क्षणस्थायी है। इससे यौवन की क्षण-

भंगुरता स्पष्ट है। बुलबुला सुरा का है—मदिरा का है। इससे उसमें मादकता है। चन्द्रिका के अधर पर है—सौन्दर्य ही पर वह निर्भर करता है। जब तक कान्ति है तब तक यौवन है। अन्यत्र भी 'अनिल में अटका कभी अछोर' ऐसी ही कवि की योजना है।

इसमें कवि यही कहना चाहता है कि यौवन क्षणभंगुर है, मादकतापूर्ण है और उल्लास तथा कान्ति से ओत-प्रोत है। कवि की एक साथ ही वह ऐसी चमत्कारक योजना है जो अपनी गम्भीर अभिव्यक्ति की कुशलता से हृदय को गद्‌गद कर देती है। यदि इसको कहा जाय कि यौवन सुरा के बुलबुला-सा क्षणभंगुर और चन्द्रिका-सा सुन्दर है तो वह रस नहीं मिल सकता जो कवि के कहने के ढंग से मिलता है।

छठा रंग—अप्रस्तुतयोजना का व्यंग्यव्यञ्जक भाव

छायावादी युग में विशेषतः और वर्तमान युग में सामान्यतः अप्रस्तुत-योजना में व्यंग्यव्यञ्जक भाव पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसमें उपमानोपमेय भाव का स्पष्ट रूप नहीं लक्षित होता।

सुरीले ढीले अधरों बीच अधूरा उसका लचका गान
विकच बचपन को मन को खींच, उचित बन जाता था उपमान। पंत

"इसमें कहा गया है कि उस बालिका का गान ही बाल्यावस्था और उसके भोले मन का उपमान बन जाता था। अर्थात् वह गान स्वतः शैशव और उसकी उमंग ही था। इसमें उपमान और उपमेय के बीच व्यंग्य-व्यञ्जक भाव का ही सम्बन्ध है, रूप-साम्य कुछ भी नहीं"। शुक्लजी

जलने का संबल लेकर दीपक पतंग से मिलता।
जलने की दीन दशा में वह फूल सदृश हो खिलता। प्रसाद

दीपक जब स्नेहपूर्ण होता है, तभी जलता है। इसी दशा में पतंग उस पर आ गिरते हैं। जब तक वह स्नेह से जलता नहीं तब तक पतंग उसपर नहीं गिरते। पतंग से मिलने का सहारा उसका जलना ही है। पतंग जलता है, यद्यपि उसके जलने की दशा दयनीय होती है, तब भी वह जलता है। इस जलन में भी वह फूल के समान खिल उठता है, प्रसन्न हो उठता है। वह समझता है कि दीपक स्नेह—तेल से जलता है, तो मैं क्यों नहीं स्नेह (प्रेम) से जलूँ। भाव यह कि प्रेमी को यदि यह विश्वास हो जाय कि उसका प्रेम-

पात्र भी उसके प्रेम में भीतर ही भीतर जल रहा है तो उसका जल जाना उत्साह-वर्द्धक और आनन्ददायक होता है। यहाँ भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत में व्यंग्यव्यञ्जक-भाव ही है।

कनक छाया में जब कि सकाल खोलती कलिका उर के द्वार
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल तड़प बन जाते हैं गुँजार। पंत

प्रातःकाल कली के खिल जाने पर उसका जब सौरभ फैल जाता है, तब गन्धअन्ध-मधुप गुंजार बन जाते हैं। अभिप्राय यह कि वे इतने गुंजार करने लगते हैं कि यह मालूम नहीं पड़ता कि मधुप गुंजार करते हैं, या वे गुंजार ही बन गये हैं। मधुपों के गुंजार बन जाने की अप्रस्तुतयोजना सौरभ की अधिकता, भौंरों की अत्यधिक प्रसन्नता तथा गुंजार की अधिकता प्रकट करती है। यहाँ भी व्यंग्य-व्यञ्जक भाव ही है, रूप आदि का साम्य नहीं।

विस्मय है जिसपर घोर लौह पुरुषों का कोइ वश न चला।
उस गढ़ में कूदा दूध और मिट्टी का बना हुआ पुतला। दिनकर

गाँधीजी के सम्बन्ध में यह उक्ति है। अर्थ स्पष्ट है। यहाँ दूध और मिट्टी का बना हुआ पुतला जो गाँधीजी के लिये अप्रस्तुतयोजना है, वह यही व्यञ्जित करता है कि साधारण मनुष्य होते हुए भी वे लौह पुरुषों से भी अधिक शक्तिशाली हैं।

इन उदाहरणों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि अप्रस्तुतयोजना की व्यंजकता पर आधुनिक विशिष्ट कवियों का विशेष ध्यान रहता है। इन अप्रस्तुतयोजनाओं का कुछ संगठन ही ऐसा होता है, जो अभीष्ट अर्थ व्यञ्जित करता है। कहीं लक्षणा भी इस अर्थबोध में सहायता करती है। कहीं-कहीं वस्तुध्वनि का भी आभास मिलता है।

सातवाँ रंग—अप्रस्तुतयोजना की ध्वन्यात्मकता

ध्वन्यात्मक अप्रस्तुतयोजना भी बड़ी मार्मिक होती है। हम इसे संलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य वा ध्वनि कहते हैं। वह शब्द-शक्ति-उद्भव तथा अर्थशक्ति-उद्भव के नाम से दो प्रकार की होती है। दोनों में ही वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि होती है। व्यञ्जक स्वतः-संभवी, कवि-प्रौढ़ोक्ति और कवि-निबद्धपात्र की प्रौढ़ोक्ति के रूप में तीन प्रकार के होते हैं और व्यङ्ग्य वस्तु

रूप में या अलंकार रूप में होते हैं। इसके भी वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलंकार, अलंकार से वस्तु और अलंकार से अलंकार के भेद से चार प्रकार होते हैं। काव्य के सभी व्यञ्जक और व्यङ्ग्य इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं। भले ही इनके नाम क्यों न बदल दिये जायँ।

आधुनिक काल में भी व्यञ्जक अप्रस्तुतयोजना की काव्य-मर्यादा अधिक है। जायसी की निम्नलिखित उक्ति के सम्बन्ध में शुक्लजी लिखते हैं—

हीरा लेइ सो विद्रुम धारा, विहँसत जगत भयउ उजियारा।

"यह पद्मिनी के होठों और दाँतों का वर्णन है, जिसमें अप्रस्तुतप्रभात का रूप बिल्कुल छिपा हुआ है। पद्मिनी के हँसने पर दाँतों की उज्ज्वल आभा अधरों की अरुण आभा लेकर जब फैलती है तब सारा संसार प्रकाशित या उत्फुल्ल हो जाता है, उसी प्रकार जैसे प्रभात काल की श्वेत अरुण आभा फैलने से भूमण्डल प्रकाशित हो जाता है।"

शुक्लजी ने इसे व्यङ्ग्य रूपक कहा है। किन्तु उनकी यह व्याख्या व्यङ्ग्य रूपक की नहीं व्यङ्ग्य उपमा की है। संभव है हीरा और विद्रुम पर दाँत और अधर के अध्यवसान से रूपकातिशयोक्ति को व्यङ्ग्य रूपक के नाम से अभिहित किया हो।

इस प्राचीन परंपरा का पालन प्रसादजी ने भी किया है—

विद्रुम सीपी संपुट में मोती के दाने कैसे?
है हंस न, शुक यह, चुगने को मुक्ता ऐसे।

मूँगे के-से लाल ओठों की सीपी में मोती के समान दाँत क्यों हैं! यहाँ हंस कहाँ, यह तो शुक की चोंच है, चोंच के आकार की नासिका है।

इसमें भी हम व्यङ्ग्य रूपक न कहकर यही कहेंगे कि विद्रुम-जैसे लाल-लाल होंठ थे और मोती-जैसे उज्ज्वल दाँत थे, यही वस्तु व्यङ्ग्य है। रूपकातिशयोक्ति अलंकार तो है ही। ऐसा ही एक और उदाहरण लें

देख रति ने मोतियों की लूट यह
मृदुल गालों पर सुमुखि के लाज से,
लाख सी दी त्वरित लगवा, बन्द कर
अधर विद्रुम द्वार अपने कोष के। पंत

कवि की नायिका ने सरस स्वर में 'नाथ' कहा और संकुचित हो गयी। इस मुद्रा से गालों पर जो आभा फूट पड़ी, वह मोती-जैसी उज्ज्वल थी।

रति से यह देखा न गया। उसने समझा कि इस तरह तो मेरा सारा खजाना ही लुट जायगा। अतः लाज से उसका मुँह न खुला। इससे सन्तोष न हुआ तो उसने लाल मुहर लगवा दी कि कहीं फिर न खुल जाय। जब बंद कर लाह जड़ दिया जाय तो गोपनीय वस्तु की भली भाँति रक्षा हो जा सकती है।

इस वर्णन से एक रूप यह खड़ा हो जाता है कि कोई अपनी गोपनीय वस्तु वा बात को खुल जाने के भय से जब लिफाफे में बंद कर देता है और मुहर लगा देता है, तब निश्चिन्त हो जाता है। यही नहीं, यह भी भासित होता है कि किसी धनीमानी ने अपने संचित धन की रक्षा के लिये घर के भीतर संदूक में उसको बंद कर ताला जड़ दिया है।

यहाँ भी व्यङ्ग्य रूपक कहा जा सकता है पर यथार्थतः वस्तुध्वनि ही है। व्याख्या सम्मत उपमा की ध्वनि भी हो सकती है।

इस प्रकार की व्यञ्जना में वस्तु और अलंकार ही सामने आते हैं। अलंकार में उपमा हो या रूपक या अन्य कोई अलंकार हो।

आठवाँ रंग—अप्रस्तुतयोजना की मार्मिकता

अप्रस्तुतयोजना में सादृश्य, साधर्म्य, प्रभाव आदि का जितना ध्यान रक्खा जायेगा उतनी ही उसमें प्रेषणीयता, भावोद्बोधकता और रमणीयता आयेगी। कवि जितना ही समाधिस्थ होगा उसकी अप्रस्तुतयोजनायें उतनी ही मार्मिक होंगी।

> जहाँ तामरस इन्दीवर या सित शतदल हैं मुरझाये,
> अपने नालों पर वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये।
> वह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं
> शिशिर कला की क्षीण स्रोत वह जो हिमतल में जम जाये। प्रसाद

तामरस, इन्दीवर और सित शतदल के अर्थ हैं—लाल कमल, नील कमल, और श्वेत कमल। श्रद्धा वह सरसी थी, जिसमें अपने डंठलों पर उक्त तीनों प्रकार के कमल मुरझा गये थे। लाल कमल के मुरझाने का यह भाव है कि उसके कमल समान मुख से लालिमा बिदा हो चुकी थी। नील कमल के मुरझाने का अर्थ है कि उसकी काली आँखों में वह तीक्ष्णता नहीं रही, घायल करने की शक्ति जाती रही। मोहकता लुप्त हो गयी। कवि ने अन्यत्र भी आँखें बिछ जाने से नील नलिनी की सृष्टि की बात कही है। "देवकामिनी

के नयनों से जहाँ नील नलिनी की सृष्टि"। यह करामात बे-मुरझाये कामिनी के नयनों की है। अस्तु, श्वेत कमल के मुरझाने का भाव है कि उसके अंगों की उज्ज्वलता फीकी पड़ गयी है। सारे शरीर का सौन्दर्य नष्टप्राय हो गया है। जिस सरसी श्रद्धा के अंग रूप डंठलों में तीनों रंग के कमल फीके पड़ चुके हों, वहाँ भँवर रूप मनु आवें तो कैसे आवें ? क्योंकि उनमें लोभनीयता तो रह नहीं गयी थी।

यहाँ सरसी की अप्रस्तुतयोजना कितने भावों को लेकर की गयी है वह सहृदयहृदयसंवेद्य ही है। ऐसी मार्मिकयोजना साधारण कवि के बूते की बाहर की है। तीसरी-चौथी पंक्तियों में भी ऐसी ही मार्मिक योजनायें हैं जिनकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं। मर्मी पाठकों से इनकी मार्मिकता छिपी न रहेगी।

कामायनी में श्रद्धा हृदय की प्रतीक है। उसमें लज्जा, दया, अनुराग, क्षमा आदि कोमल और सुकुमार भावनायें ही प्रबल हैं। वह कल्याण-कारिणी है। अतः इसी भावना के अनुरूप उसके बाल घन शावक-से सुकुमार हैं और चन्द्रमा में अमृत भरने को घिर रहे हैं।

घिर रहे थे घुंघराले बाल अंश अवलंबित मुख के पास
नीलघन शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास। प्रसाद

पर इड़ा बुद्धि की प्रतीक है। उसमें विचार है, कर्म है, तर्क है और है उलझन। इसी से उसके केश हैं।

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।

वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम, शशि खण्ड सदृश था स्पष्ट भाल।

इस भावना को कवि कहीं नहीं भूला। जहाँ जीवन की जटिलता के विषय में कवि कहता है—

जीवन की जटिल समस्या है, बढ़ी जटा सी कैसी। आँसू

जहाँ जीवन जटिल है, उलझनपूर्ण है, एक-में-एक गुँथा हुआ है, वहाँ बालों ने जटा का रूप धारण कर लिया है। 'जटा सी' की अप्रस्तुतयोजना उस भाव को व्यक्त कर रही है।

जहाँ बाल उसके आकर्षण के कारण हो जाते हैं वहाँ वे आसक्ति का रूप ले लेते हैं।

इस हृदय कमल का घिरना अलि अलकों की उलझन में। आँसू

कमल पर भौंरे गूँजते रहते हैं, उनकी भीड़ लगी रहती है। भावार्थ यह कि उसकी भौंरों-से कुंचित काले बालों में मेरा हृदयकमल उलझ गया था। मेरा मन उसपर लट्टू हो गया था।

ऐसी भावानुगामिनी अप्रस्तुतयोजनायें बड़ी मर्मस्पर्शिनी होती हैं और भाव का हृदय खोलकर रख देती है।

प्रायः कवियों ने दिन और चाँदनी रात को क्रमशः प्रकाशमान और उज्ज्वल मानकर अपनी भावनायें प्रकट की हैं। इनपर महादेवी की सरस उक्तियों को ही देखिये —

कनक से दिन, मोती सी रात, सुनहली साँझ गुलाबीप्रात।
मिटाता रँगता बारंबार कौन जग का यह चित्राधार।

सोना प्रकाशमान और मोती उज्ज्वल है। भाव यह कि दिन सोना-सा चमकता है और चाँदनी रात मोती-सी झलकती है। प्रातःकाल का भी स्वर्णिम वर्णन होता है। जैसे—

इन पर प्रभात ने फेरा आकर सोने का पानी।

इन्हीं दोनों सोना-मोती को नये-नये रंग-रूप में देखिये—

स्मित ले प्रभात आता नित, दीपक दे सन्ध्या जाती।
दिन ढलता सोना बरसा, निशि मोती दे मुस्काती।

दिन ढलने पर ही तो रात मुस्काती है। मोती देना और मुस्काना दोनों ही उज्ज्वल आभा के प्रतीक हैं।

विद्युत के चल स्वर्ण पाश में बँध हँस देता रोता जलधर,
अपने मृदु मानस की ज्वाला गीतों से नहलाता सागर,
दिन निशि को देती निशि दिन को कनक रजत के मधु प्याले हैं।

—महादेवी

दिन निशि को सोने का प्याला और रात दिन को रजत का प्याला देती है। क्रमशः इनका निरन्तर आना-जाना लगा हुआ है।

ले ले तरल रजत औ कंचन निशि दिन ले लीपा जो आँगन।
वह सुषमामय नभ उनका पल पल मिटते नव घन मेरे हों। महादेवी

चारों उदाहरणों में एक ही भाव को लेकर रात और दिन आये हैं, पर नये-नये रूपों में। यही तो अभिव्यक्ति की कुशलता है, कला है। बार-बार के इनके प्रयोग कभी भी उद्वेजक नहीं जान पड़ते। बल्कि इसके विपरीत मन

को नयी-नयी सौन्दर्य-भावना से भर देते हैं। जो कवि एक ही भाव को लेकर ऐसी सौन्दर्य-सृष्टि कर सकता है, उसकी प्रतिभा अलौकिक है। प्रकाश और चाँदनी के लिये सोना, मोती और चाँदनी की अप्रस्तुतयोजना अपने भावों से कभी विचलित नहीं हुई है। इनकी मार्मिकता फूटी पड़ती है और इस उक्ति को चरितार्थ करती है—

'क्षणं क्षणं यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'।

नवाँ रंग—अप्रस्तुतयोजना की अमार्मिकता

अप्रस्तुतयोजनायें सब प्रकार से सुन्दर हों, कवियों को इसका ध्यान रखना आवश्यक है। ऊपर-ऊपर थोड़ा-सा साम्य का आधार पाकर अप्रस्तुतयोजना कर बैठना मार्मिकता का पोषक नहीं हो सकता। इसके लिये दूर दृष्टि होकर काम लेना चाहिये।

नव कोमल आलोक बिखरता हिम संसृति पर भर अनुराग
सित सरोज पर क्रीड़ा करता जैसे मधुमय पिंग पराग।

—प्रसाद

यहाँ हिमराशि के लिये श्वेत कमल, जिसमें केवल श्वेतता का ही साम्य है, लाया गया है। कहाँ हिमराशि और कहाँ एक कमल! इस दृष्टि से हिमराशि की अधिकता उपमेय-दोष है। कोमल आलोकस्वर्णाभ प्रकाश के लिये पीला पराग आया है। व्यापक प्रकाश के लिये पुष्परज की योजना में भी उपमेयगत अधिकता है। अनुराग के लिये मधु-मकरन्द आया है। यह उत्तम है। अनुराग मधु जैसा ही मधुर और सरस है। उपमेय और उपमान दोनों के न्यूनाधिक्य को छोड़कर वे वर्ण, कोमलता और रस तीनों में समान हैं। किन्तु इन दोनों के धर्म में—क्रिया में समता नहीं है। क्योंकि क्रीड़ा करना प्रकाश में ही संभव है। लक्षणा उसी में काम करेगी। पराग में स्थिरता है, गतिशीलता नहीं है। उसमें किसी प्रकार से क्रीड़ा संभव नहीं है। हवा से पराग का उड़ जाना सहृदयानुमोदित क्रीड़ा करना नहीं कहा जा सकता।

मंगलमय हो पंथ सुहागिन यह मेरा वरदान।
हर सिंगार की टहनी से फूलें तेरे अरमान। दिनकर

इसमें अप्रस्तुतयोजना की दृष्टि से लिंग वचन के दोष हैं। अरमान पुंलिंग और बहुवचन हैं और टहनी स्त्रीलिंग और एकवचन। ये दोष भले ही न माने जायँ, पर यहाँ कानों को खटकते हैं अवश्य। ऐसे उपमानों से सहृदयता झुँझला उठती है। अस्तु। वरदान की दृष्टि से यह उपमान सदोष है, अमार्मिक है। कवि की दृष्टि हरसिंगार के फूलों से लदफद टहनी की ओर ही गयी और उसे ही ध्यान में रखकर वरदान दे डाला। पर उसका उधर ध्यान नहीं गया कि प्रातःकाल होते ही हरसिंगार के सभी फूल अनायास झड़ जाते हैं पर अरमान ऐसे नहीं होते। उनकी सफलता की क्षण-स्थायिता अभीष्ट नहीं। वरदानदाता कभी ऐसा न चाहेगा कि अपने दानपात्र की अभिलाषायें क्षणकाल के लिये फूलकर नष्ट हो जायँ। इससे टहनी के फूलने की अप्रस्तुतयोजना में मार्मिकता नहीं है।

इंदु दीप से दग्ध शलभ शिशु! शुचि उलूक अब हुआ विहान,
अन्धकारमय मेरे उर से, आओ छिप जावो अनजान। पंत

"सवेरा होने पर नक्षत्र भी छिप जाते हैं, उल्लू भी। बस इतने से साधर्म्य को लेकर कवि ने नक्षत्रों को उल्लू बना डाला है और वे साफ-सुथरे ही क्यों न हों, उन्हें अँधेरे उर में छिपने के लिये आमन्त्रित कर दिया गया है। पर इतने उल्लू यदि डेरा डालेंगे तो मन की दशा क्या होगी? कवि को यदि अपने नैराश्य और अवसाद की व्यंजना करनी ही थी तो नक्षत्रों को विना उल्लू बनाये भी काम चल जा सकता था"। शुक्लजी

सकल सिद्धिमयी निधि ऋद्धि की इस प्रकार बढ़ी नृप राज्य में।
जिस प्रकार नवाम्बुद वारि से बढ़ चले शलभादि असंख्य हों।
—अनूप

राजा के राज्य में ऋद्धि की निधि ऐसी बढ़ चली जैसे बरसात के पहले पानी से असंख्य कीट-पतंग बढ़ जाते हैं। इसमें उपमान उपमेय के योग्य नहीं है। कहाँ ऋद्धि-सिद्धियाँ और कहाँ कीट-पतँग। यहाँ उपमान की धर्मगत न्यूनता है। ऋद्धि की निधि में कोई संख्या नहीं और यहाँ असंख्य हैं। लिंगभेद खटकनेवाला है। परिमाण की बहुलता से संख्या की बहुलता का कोई साम्य नहीं। यह योजना निधि की वृद्धि के समझने में कुछ भी सहायक नहीं होती।

पर दाढ़ तले तुम्हें दबा ही रक्खा मैंने
कंजूस ने ज्यों कौड़ी। निराला

यहाँ की योजना एक लोकोक्ति के रूप में है। दाँतों से कौड़ी दाबना एक मुहाविरा है। लक्षणा से इसका अर्थ होता है—खर्च न करना, पैसा मींज-मींजकर निकालना, पैसा जोड़-जोड़कर रखना आदि।

गरमागरम पकौड़ी मुँह में गयी, पर जलती हुई भी दाढ़ों तले दबा दी गयी, जैसे कंजूस कौड़ी को दाँतों से दाब ले। यहाँ सत्य रूप में—वाक्यार्थ के रूप में कौड़ी दाबने की बात कही गयी है और इसी रूप में साम्ययोजना है भी। यहाँ लाक्षणिक अर्थ को धता बता दिया गया है। यह अनुचित और अयथार्थ है। एक कौड़ी भी कठिनता से निकालने का जो लाक्षणिक अर्थ है वही ठीक है। इस दशा में उपमानोपमेय भाव रह ही नहीं जाता। कुछ उनकी योजनायें खेलवाड़-सी प्रतीत होती हैं।

> फिर भी वह बस्ती है मोड़ पर नातिन जैसे नानी की गोद पर,
> नाम है हिलगी बनी है भूचुम्बी जैसी लौकी की लम्बी तुम्बी
>
> —निराला

कहीं से ये पंक्तियाँ लिख ली थीं। इनका भी मुलाहिजा कर लें।

> तुम दिया की जोत सी, तुम तो झमकते झूमरों सी,
> अप्सरा के रूप सी तुम तो किरण के नूपुरों सी,
> लहलहाते खेत सी उजले किलकते बादलों सी,
> तुम हृदय की वायु में विह्वल विभा से द्रुम दलों सी।

एक ही प्रिया दिया की ज्योति-सी है और उजले बादलों-सी भी है। विशेष व्याख्या आवश्यक नहीं। स्पष्ट है।

दसवाँ रंग—अप्रस्तुतयोजना की असमर्थता

मानवीकरण अभिव्यञ्जनावाद का बहुत सहायक है। प्राकृतिक वस्तुओं और अमूर्त-विधानों पर मानवी व्यापारों का आरोप इस प्रकार का होना चाहिये, जिससे वस्तु-व्यापार की प्रकृत व्यञ्जना हो। अप्रस्तुतयोजना में इसका ध्यान आवश्यक है। जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ अमूर्त के मूर्त विधान का, अमूर्त के मूर्त प्रत्यक्षीकरण का तथा सूक्ष्म भावों की गम्भीर व्यञ्जना का अभीष्ट सिद्ध नहीं होता।

> शिलाखण्ड पर बैठी वह नीलाञ्चल मृदु लहराता था—
> मुक्तबन्ध सन्ध्या-समीर सुन्दरी सङ्ग
> कुछ चुप-चुप बातें करते जाता और मुस्कुराता था,

विकसित असित सुवासित उड़ते उसके
कुंचित कच गोरे कपोल छू-छूकर—
लिपट उरोजों से भी वे जाते थे,
थपकी एक मार कर बड़े प्यार से इठलाते थे ;
शिशिर विन्दु रस सिन्धु बहाता सुन्दर
अंगना अंग पर गगनाङ्गन से गिरकर।
यह कविता ही थी और साज था उसका बस शृङ्गार। निराला

कविता पर नारी का यह आरोप ऐसा है, जो कविता के सम्बन्ध में कोई भावना मन में नहीं जगाता। यह आरोप कविता के रंग-रूप का उद्बोधक नहीं। यह कल्पना नारी की ही एक सुन्दर मुद्रा सामने ला खड़ी करती है। समीर उस रूप का रसिक ज्ञात होता है। क्योंकि वह उसको देखकर मुस्कराता है। चुपचाप बातें भी करता है। ये नायक के-से भाव हैं, जो नायिका के प्रति व्यक्त होते हैं। 'यह कविता ही थी।' कह देने से कविता रूप में यह कविता हमारे मन में नहीं धँसती। इससे पार्क में बैठी एक नायिका की मनमोहिनी मूर्ति ही आँखों में फिर जाती है। इससे हृदयाकर्षण तो होता है, पर यह मर्मस्थल को स्पर्श नहीं करता। एक कुतूहल-सा पैदा हो जाता है।

जो देखा यों ठिठकते हिचकिचाते,
बहुत भयभीत होकर पग बढ़ाते,
मिली दो एक सरिता और आकर,
मिलाकर ले चली समझा बुझाकर
बहुत दिखलाके ऊँचा और नीचा,
उसे बहला के पति की ओर खींचा ;
निकट आ सिन्धु लख कँपती दिखाई
ठिठक सी कुछ गई, सकुची लजाई। भक्त

नदी का मानवीकरण है और उसपर नायिका का आरोप है। वस्तु-व्यापार की प्रकट व्यञ्जना से आरोप बहुत दूर जा पड़ा है। मानुषी कृतियों का ही अधिक व्यापार वर्णित है। इससे नदी सामने नहीं आती। नववधू ही आती है। कितने ऐसे व्यापार हैं जो नदी में कल्पित नहीं हो सकते। ठिठकना, हिचकिचाना, भयभीत होना, पति की ओर खिंचना, जिससे विवशता व्यक्त होती है, संकुचित होना, लज्जित होना आदि ऐसे ही भाव हैं। सरिताओं से

मिलकर नदी का बहना और सखी रूप में उनकी कल्पना ही प्रकृत और संगत है। ऐसी बात इसमें नहीं पायी जाती।

> जो सरिता को भरे अंक में, शीतल करता छाती,
> तटिनी जिसके मुख पर उठ-उठ, चुम्बन छाप लगाती।
> आज सूर्य उसका वैरी बनकर रथ पर बैठाये,
> सरिता हरण किये जाता है, तट को दूर हटाये। भक्त

इसका उत्तरार्द्ध बरबस सीता-हरण का रूप सामने खड़ा कर देता है। वही चित्र इसमें है। कवि इसको भले ही न माने, पर मन माने बिना नहीं रहेगा। प्रकृत के रूप-व्यापार की यह योजना दूषित है। क्योंकि हरणकर्त्ता रवि ने तटिनी का सुखोपभोग किया है। यह सीता-हरण-कारी रावण के लिये आकाशकुसुम का-सा असम्भव था। यह योजना यथार्थ नहीं है। सूर्यातप से सरितासलिल सूख रहा है, उत्तरार्द्ध से यह अर्थ सभी को सहसा स्पष्ट न होगा।

ग्यारहवाँ रंग—अप्रस्तुतयोजना की संभवनीयता

कवि अपनी कल्पना से ऐसी अप्रस्तुतयोजनायें भी करता है जिनमें संभावना ही अधिक होती है, अस्तित्व की मात्रा कम। यथार्थतः कवि-कल्पना से ही इनका अधिक सम्बन्ध रहता है।

'चित्रमीमांसा' में एक उदाहरण है जिसका आशय यह है कि—"आकाश में आकाशगंगा के दो पृथक्-पृथक् प्रवाह बहें, तब इस राजा के मोती की मालावाले तमालनील वक्षस्थल की उपमा दी जा सकती[1] है"।

इसमें राजा के नील वक्षस्थल पर लटकती माला की दो लड़ियों की तुलना के लिये नील आकाश में आकाशगंगा के दो उज्ज्वल धाराओं की सम्भावना करके उपमा दी गयी है। इसमें 'यदि' का समावेश न होता तो यहाँ उत्प्रेक्षालंकार हो जाता। इसको सम्भावित उपमा भी कहा जा सकता है। ऐसे स्थानों में सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार माना है। चन्द्रालोक में 'सम्भावना' नामक एक पृथक् अलंकार ही माना गया है। जो हो, हम तो यहाँ सम्भावना की ही चर्चा कर रहे हैं।

---

1 उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावाकाशगंगापयसः पतेताम्।
तदोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः। रघुवंश

जो छवि सुधा पयोनिधि होई, परमरूपमय कच्छप सोई।
शोभा रजु मन्दर शृंगारू, मथै पाणि पंकज निज मारू।
यहि विधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल। तुलसी

इस सम्भावित उपमा में लक्ष्मी की उत्पन्न होने की जो बात कही गयी , वह सौन्दर्य का भंडार है। समुद्र तो सुन्दरता सुधा का हो और परम रूपमय कच्छप हो। शोभा रस्सी हो, शृङ्गार मंदराचल हो और काम स्वयं मथे। इस प्रकार सुन्दरता और सुख के मूल लक्ष्मी उस समुद्र से उत्पन्न हो तो उनसे किसी प्रकार कवि सीता की समता कर सकता है। छवि, रूप, शोभा, शृङ्गार और मदन, सभी सुन्दर ही सुन्दर हैं। इस सम्भावित सरस, सुन्दर तथा मधुर उपमा से किस सहृदय की हृदयकली न खिल उठेगी। संकोचपूर्वक तुलना करने की बात से असंबंधातिशयोक्ति अलंकार है।

करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं घर्षित हुए।
तब विस्फुरित होते हुए भुजदंड यों दर्शित हुए।
दो पद्म शुंडों में लिये दो शुंडवाला गज कहीं—
मर्दन करे उनको परस्पर तो मिले समता कहीं। गुप्तजी

यह प्राचीन परम्परा का ही निर्देशक है। इसमें 'कहीं' शब्द से दो पद्म लिये दो शुंडवाले हाथी के होने की सम्भावना की गयी है। इसमें कवि की कल्पना ही प्रबल है और उसने घर्षण करनेवाले हाथों की ऐसी अप्रस्तुतयोजना कर दिखायी है।

चंचला स्नान कर आवे चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी ऐसी। प्रसाद

चंचला—बिजली बरसाती मेघों में ही अधिक दीख पड़ती है। शरदकाल में शुभ्र मेघों में कदाचित् ही। चन्द्रिका में तो उसका होना एकदम असंभव ही है। कवि कहना चाहता है कि उस पावन तन की शोभा चन्द्रिका-स्नात चंचला-सी आलोक मधुर थी। कवि यदि चन्द्रिका में चंचला को नहीं नहलाता तो शोभा में न तो आलोक मिला सकता था और न उसमें चंचलता का ही समावेश हो सकता था। इससे उसको ऐसी कल्पना करनी पड़ी जिसमें संभावना ही संभावना है।

बारहवाँ रंग—अप्रस्तुतयोजना में प्रभावसाम्य

प्राचीन अप्रस्तुतयोजना केवल रूप-रंग या आकार-प्रकार को ऊपर ही ऊपर देखकर नहीं की जाती थी वल्कि यह भी देखा जाता था कि भावना पर उसका प्रभाव कैसा पड़ता है। आँखों के उपमान मृग, मीन, खंजन, कंज सभी हैं। इनके आकार-प्रकार भिन्न हैं, पर इनमें कुछ गुण ऐसे हैं, जो आँखों में वर्तमान हैं। आँखों को 'अरुण-सरोज समान' कहते हैं, तो एक सौन्दर्य-भावना जाग्रत होती है, पर क्रोध का प्रदर्शन करना होता है तब कहते हैं कि 'आँखें अंगार-सी जल रही हैं'। झपट्टा मारने में ही बिल्ली हमारे सामने आती है। किन्तु थप्पड़ मारने में हम कहते हैं कि 'उसके थप्पड़ को बाघ का थप्पड़ कहिये'। वीर पुरुष की तुलना सिंह से ही की जा सकती है, स्यार से नहीं। कहने का अभिप्राय यह कि अप्रस्तुतयोजना में प्रभाव की किसी प्रकार उपेक्षा नहीं की जा सकती।

प्रभावसाम्य के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वस्तु के प्रत्येक कार्य या गुण का पूर्णतः साम्य हो। सादृश्य और साधर्म्य के संकेत वा सूत्रमात्र से भी भाव की वृद्धि हो तो पूरा आरोप अनावश्यक है। यदि सादृश्य और साधर्म्य प्रभावविस्तारक नहीं तो वह उपमान निर्जीव है। अप्रस्तुतयोजना में प्रभाव की क्षमता उपेक्षणीय नहीं है। प्रसन्नता की बात है कि छायावादी युग की कविता प्रायः प्रभावसाम्य पर ही अधिक दृष्टि रखकर की गयी है। सादृश्य का अभाव होने पर भी नाममात्र के प्रभाव-संकेत पर अप्रस्तुत-योजना कर दी गयी है। ऐसी योजनायें धड़ल्ले से की गयी हैं।

नवोढ़ा बाल लहर अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुककर सरकती है सत्वर। पंत

इसमें प्रत्यक्षतः नवोढ़ा रूपक के रूप में है और लहर पर उसका अध्यवसान किया गया-सा प्रतीत होता है, पर यथार्थतः यहाँ लुप्तोपमा है। वाचक 'सी' का लोप है। अर्थात् बाल लहर नवोढ़ा-सी रुककर सरकती है। इसमें नवोढ़ा और बाल लहर का स्वरूपतः कुछ सादृश्य नहीं। रुककर सरकने की क्रिया का ही थोड़ा साधर्म्य है। नवोढ़ा पति के निकट जाती तो है पर सत्वर ही भाग आती है। लज्जा से खिसकना या सिकुड़ना ही साम्य का आधार है।

रँगीले गीले फूलों से, अधखिले भावों से प्रमुदित।
बाल्य-सरिता के फूलों से, खेलती थी तरंग सी नित। पंत

तरंग जैसे अपने कूलों तक ही सीमित रहती है, उसी के भीतर उठती-पड़ती, घटती-बढ़ती और जाती-आती है, उसी प्रकार वह लड़कपन के ही सारे खेल खेलती थी। सीमा के धुँधले साम्य को लेकर ही यहाँ की अप्रस्तुतयोजना है।

लाली बन सरस कपोलों में आँखों में अंजन सी लगती।
कुंचित अलकों सी घुँघराली मन का मरोर बनकर जगती। प्रसाद

जब लज्जा उत्पन्न होती है, तब स्वभावतः गाल लाल हो उठते हैं। कहीं-कहीं यह ललाई कान तक फैली हुई वर्णित होती है। लज्जा के उत्पन्न होने से आँखें झुक जाती हैं, जिससे सौन्दर्य की वृद्धि हो जाती है। अंजन लगाने से आँखों का सौन्दर्य निखर पड़ता है। आँखों में काजल न लगा रहने पर भी ऐसा भान होता है, जैसे वह लगा हुआ हो। यह लज्जा की ही महिमा है। इसमें साम्य का आधार सूक्ष्म सौन्दर्य है। मन में मरोर तभी उठती है, जब उसमें लज्जा का प्रवेश होता है। इसमें ऐंठन का सूक्ष्म आधार लेकर ही कुंचित अलकों की अप्रस्तुतयोजना कर दी गयी है।

मृत्यु सदृश शीतल निराश ही आलिंगन पाती थी दृष्टि,
परम व्योम से भौतिक कण सी घने कुहासों की थी वृष्टि। प्रसाद

दृष्टि का आलिंगन वस्तुओं का साक्षात्कार करना है। दृष्टि को चारों ओर निराशा ही निराशा मृत्यु के समान शीतल दीख पड़ती थी। यहाँ निराशा का उपमान मृत्यु है और उसका साधारण गुण शीतलता वर्णित है। निराशा न तो देखी जा सकती है और न उसके शीतल गुण का अनुभव ही किया जा सकता है। क्योंकि वह स्पर्श से परे की वस्तु है। केवल हृदय-हीनता के सूक्ष्म धर्म को लेकर अप्रस्तुतयोजना कर दी गयी है।

सखे यह है माया का देश क्षणिक है मेरा तेरा संग,
यहाँ मिलता काँटों में बन्धु सजीला सा फूलों का रंग। महादेवी

इस संसार में काँटों में फूल जैसा असज्जनों में सज्जन का मिलना है। दूसरी पंक्ति का यही भावार्थ है। 'काँटों में' का अभिप्राय कठोर हृदयवालों में, पीड़ा पहुँचानेवालों में, दुष्टों में और पक्षान्तर में काँटों का प्रचलित अर्थ ही है। यहाँ फूलों का सजीला रंग जो बन्धु की अप्रस्तुतयोजना है, केवल आह्लादकता का सूक्ष्म आधार लेकर ही है।

छायावाद युग की कविताओं में प्रायः इसी प्रकार के प्रभाव को लेकर अप्रस्तुतयोजनायें की गयी हैं। यद्यपि ऐसी योजनायें साम्य के धुँधले

आधार पर ही की जाती हैं, पर बड़ी ही मार्मिक और हृदयाकर्षक होती हैं। यत्र-तत्र तो साम्य इतना सूक्ष्म होता है कि उसे हृदयंगम करना कठिन हो जाता है।

नवीन कविताओं में भी यत्र-तत्र प्रभावसाम्य पर की गयी अप्रस्तुतयोजना दिखलाई पड़ जाती है।

बन्धनों से मुक्ति ही क्या शक्ति का उपहास मेरा ?
विश्व के विश्वास पर है खड्ग सा उपहास मेरा। रा० राघव

दूसरे चरण का भाव यह है कि मेरा उपहास विश्व के विश्वास पर ऐसा प्रहार करता है जैसे तलवार चोट करती है। भाव यह कि उपहास असह्य हो उठता है। यहाँ धुँधला-सा चोट करने का भाव लेकर ही अप्रस्तुतयोजना की गयी है।

तेरहवाँ रंग—अप्रस्तुतयोजना की प्रासंगिकता

वाक्यार्थ में चमत्कार लाने, उसकी गम्भीरता बढ़ाने के अनेकों साधन हैं जिनमें एक प्रसंग-गर्भता भी है। यह उपमान का ही काम करती है। यह भी एक प्रकार की अप्रस्तुतयोजना ही है। रुचिर प्रसंगों की अवतारणा से भाषा की भी सौन्दर्य-वृद्धि हो जाती है। ऐसे स्थानों में मुद्रालंकार होता है।

ललित कल्पना कोमल पद का मैं हूँ 'मनहर' छंद। निराला

यह उक्ति रास्ते के फूल की है। उसने अपनी पूर्व की अपूर्व अवस्था के वर्णन में अपने को ललित कल्पना का मन हरण करनेवाला छन्द बताया है। इसी प्रसंग में 'मनहर' छन्द का भी नाम आ गया है, जिसे आज 'कवित्त' कहते हैं। भावार्थ यह कि मनहर छन्द जैसा ललित कल्पना तथा कोमल पद का होता है वैसा ही मैं भी हूँ। मुझमें भी ललित कल्पनायें हैं—सुन्दर अरमान हैं, कोमल दल हैं, इत्यादि।

कहाँ मेघ औ हंस किन्तु तुम भेज चुके सन्देश अजान
छुड़ा मरालों से सुन्दर धनु जुड़ा चुके तुम अगणित प्राण। पंत

अनंग नामक कविता का यह पद्य है और इसमें उसकी महिमा का वर्णन है। यक्ष ने मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रेयसी के पास भेजा था, यह कालिदास के मेघदूत में है। नैषधचरित में नल ने दमयन्ती के पास 'हंस' को दूत बनाकर भेजा था। हंसदूत में भी इसकी कथा है। यह अनंग ही की

महिमा है कि उनके द्वारा मेघ और हंस को दूत बनाकर सन्देश भेजा गया। मराल रामचंद्र के लिये आया है। वे राजकुमार थे, मराल से सुकुमार थे, फिर भी मन्दर पर्वत समान गुरुगंभीर अचल कठिन धनुष को तुड़वाया। यहाँ का बहुवचन खटकता है। मंथर से मंदर अच्छा पाठ है। भावार्थ यह कि चेतनाचेतन-ज्ञान-शून्य इन व्यक्तियों ने जैसे अपने सन्देश भेजे थे, वैसे तुम अनेकों से सन्देश भेजवाकर अगणित प्राणों को जुड़ा चुके हो।

गावो, सुन्दर प्राण-प्राण में नव सर्जन का राग समाये
बस उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत, स्वर छा जाये।
—मिलिन्द

जागृति के सम्बन्ध में यह मंत्र प्रसंग में आकर जादू का-सा असर करता है और यह भाव प्रकट करता है कि मंत्र-रचना-काल में जैसा इसका भाव था, वैसा ही भाव सर्वत्र व्याप्त हो जाय।

शक्ति लंग आहत पड़ा है आज भारत
रो रहा है राम सत्यों का प्रदर्शक!
भूल मत संजीवनी है आज जनता,
रावणों का ध्वंस ही है लक्ष्य प्रेरक। राघव

भावार्थ यह कि जिस प्रकार शक्ति लगने से लक्ष्मण मूर्च्छित थे, राम रो रहे थे, संजीवनी लाने हनुमान गये थे और रावण का वध ही उद्देश्य था उसी प्रकार भारत भी मूर्च्छित है, सत्पथप्रदर्शक महात्मा गाँधी विह्वल हैं, जनता ही संजीवनी शक्ति है और साम्राज्य का विलोपसाधन अभीष्ट है। प्रत्यक्ष उक्त होने से यहाँ समासोक्ति नहीं कही जा सकती। प्रसंग के रूप में ही यह अप्रस्तुतयोजना है।

चन्द्र-चकोर, शलभ-पतंग, आदि का उपमान भी एक प्रकार की प्रसंग-गर्भता ही है। जैसे—

है चन्द्र हृदय में बैठा उस शीतल किरण सहारे
सौन्दर्य सुधा बलिहारी चुगता चकोर अंगारे। प्रसाद

मेरे हृदय में उसका चाँद-सा मुखड़ा ही चमक रहा है। उसकी शीतल किरणों के सहारे ही मेरा जीवन है। यह सौन्दर्य सुधा की ही महिमा है। चकोर अंगारों में भी चन्द्र-सौन्दर्य पाकर उन्हें चुगने लगता है और उसीसे शक्ति पाता है। भाव यह कि जैसे चकोर को दाहक अंगार भी शीतलता प्रदान करता है, वैसे विरह में प्रिय का दाहक—दुखदायक रूप भी स्मरण से प्रेमी को शीतल ही करता है।

चौदहवाँ रंग—अप्रस्तुतयोजना में प्रतिद्वन्द्वात्मक समता

कुछ ऐसी भी अप्रस्तुतयोजनायें होती हैं जिनमें प्रतिद्वन्द्वात्मक तुलना प्रतीत होती है। इनसे काव्य में चमत्कार आ जाता है।

> मेरी लघुता पर आती जिस दिव्य लोक को व्रीड़ा
> उसके प्राणों से पूछो वे पाल सकेंगे पीड़ा ?
> उनसे कैसे छोटा है मेरा यह भिक्षुक जीवन ?
> उनमें अनन्त करुणा है इसमें असीम सूनापन ! महादेवी

उत्तरार्द्ध में कवियित्री उनसे अपने को न्यून बताना नहीं चाहती। जीवन भले ही भिक्षुक हो, उससे क्या आता-जाता है। उधर करुणा है तो इधर सूनापन है। करुणा अनन्त है तो सूनापन भी असीम है। इस उक्ति में प्रतिद्वन्द्विता की झलक है। ऐसा न होता तो पीड़ा पालने की बात नहीं पूछी जाती और न छोटे होने की बात ही कही जाती। कवियित्री के मन से न्यून होने की बात अस्वीकृत है। यहाँ अप्रस्तुतयोजना के मूल में प्रतिद्वन्द्विता है।

> करुणे क्यों रोती है 'उत्तर' में और अधिक तू रोई।
> मेरी विभूति है जो उसको 'भवभूति' क्यों कहे कोई ? गुप्तजी

इस कविता में 'भवभूति' उनके 'उत्तररामचरित' और 'एको रसः करुण एव' ये तीनों सामने आ जाते हैं। उर्मिला के प्रसंगोपात्त कारुणिक वर्णन में उत्तर और भवभूति शब्दों द्वारा करुणा-रस-पूरित भवभूतिकृत उत्तररामचरित नाटक की सूचना इससे की गयी है। इससे यह विदित होता है कि इस नवम सर्ग में करुणा रस का वर्णन उत्तररामचरित जैसा है। यहाँ मुद्रा अलंकार है।

कवि को यह अभीष्ट नहीं है कि ऐसी कोई कल्पना भी करे कि मैं और मेरा नवम सर्ग भवभूति और उत्तररामचरित की समकक्षता करनेवाले हैं। कवि इस भावना को मन में लाकर उर्मिला के मुँह से कहवाता है कि उत्तररामचरित में करुणा का अधिक क्रन्दन है। अर्थात् उसमें करुणा रस का पूर्ण परिपाक है। किसी रोनेवाले से पूछा जाय कि क्यों रोता है तो वह उत्तर नहीं देता, और रो उठता है। सहानुभूति-प्रदर्शन से उसके दुःख का बाँध टूट-सा जाता है। कवि के सामने रोनेवाले का यही चित्र उपस्थित है।

उर्मिला की विभूति भिन्न प्रकार की है। उसमें प्रियानुराग की मूर्ति है।

वह अलौकिक है। वह 'भव' अर्थात् 'संसार' की 'भूति' अर्थात् संपत्ति नहीं है। नवम सर्ग की काव्यसंपत्ति कवि भवभूति की काव्यसंपत्ति नहीं है। उर्मिला का करुण क्रन्दन सीता के करुण क्रन्दन से कुछ बढ़ा-चढ़ा है। कवि गुप्त की अपेक्षा कवि भवभूति कुछ और हैं। यहाँ उर्मिला की उक्ति से यह स्पष्ट है कि तुलना करनेवाले तुलना करें पर उर्मिला की उससे प्रतिद्वन्द्विता है।

> फूलते नहीं हैं फूल वैसे वसंत में
> जैसे तव कल्पना की डारों पर खिलते हैं। निराला

वसंत में खिलनेवाले फूल साधारण फूल नही होते। उनमें चमक दमक और रस-गंध भरपूर होते हैं। वे साधारण समय के फूलों से कहीं अच्छे होते हैं। कल्पना के फूल कल्पनामूलक अप्रस्तुतयोजना-स्वरूप फूल कुछ और रंगत के होते हैं। फूलों में प्राकृतिक रंग-रस रहते हैं। कल्पना के कृत्रिम फूल रंग-रस में उनकी समता नहीं कर सकते। फिर भी कवि के कल्पना-प्रसूत काव्य-प्रसून को उच्च कहना अनुचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वसंत-कुसुम के समान ही काव्यप्रसून से सरस रसिक लुब्ध—मुग्ध होते हैं। इनकी श्रेष्ठता के अनेक कारण हो सकते हैं जिनमें एक चिरस्थायिता है। यहाँ वसंतकुसुम समता ही के लिये लाया गया है पर कवि ने प्रतिद्वन्द्विता की बात लाकर चमत्कार पैदा कर दिया है।

ऐसे स्थानो में साधारणतः न तो विरोधाभास की और न व्यतिरेक की ही बात कही जा सकती है। क्योंकि इनसे किसी-न-किसी प्रकार तुलनात्मक प्रतिद्वन्द्विता ही प्रकट होती है।

पंद्रहवाँ रंग—अप्रस्तुतयोजना में विरोधात्मक समता

द्वन्द्वात्मक समता के विपरीत विरोधात्मक समता है। ऐसी अप्रस्तुतयोजना की भावभङ्गी ही विभिन्न होती है। इसके एक रूप में समता लक्षित होती है तो अन्य रूप में विभिन्नता भी प्रत्यक्ष रहती है। इनमें विरोध का रूप प्रत्यक्ष सा रहता है।

—तब क्यों कर बतलाऊँ कि वह मुखड़ा कैसा है। वह न तो अप्सराकंठ से निकले गीत का सा है, न तो नदी के हृदय पर खेलते हुए अस्फुट चन्द्रालोक में विरोह संगीत जैसा है और न तो सद्यः प्रस्फुटित

कुसुमों की भीनी भीनी सुगन्ध लेकर बहती हुई निदाघ काल की सायाह्न वायु का सा है। —उद्भ्रान्त प्रेम

लेखक के सामने मुखड़े के उपमायोग्य पदार्थ आते हैं पर उनसे वह अपनी अरुचि प्रकट करता है। उसके विरोध में यह समाया हुआ है कि ये सुन्दर पदार्थ उसके मुखड़े के तुल्य हो सकते हैं पर उनमें वैसी कान्ति, वैसी सुन्दरता और वैसी पवित्रता लक्षित नहीं होती। इनमें वह कुछ मुखड़े की समानता पाता है तभी इन्हें सामने लाता है और पदार्थों को नहीं। वह मुखड़े की समता का विरोधपूर्ण आभास इनसे दे देता है।

तिमिरनाशक उषा सा विद्रोह है।
तिमिरनाशक तारकों सा द्रोह है।
रवि सदृश विद्रोहज्वाला एक है।
जुगुनुओं सी द्रोह अग्नि अनेक है।
आग दोनों में परन्तु विभिन्न है।
द्रोह से विद्रोह बिल्कुल भिन्न है। जगन्नाथ

तुलना रूप से उषा-तारक और रवि-जुगुनू एक साथ लाये गये हैं। दोनों के रूप पृथक्-पृथक् हैं पर एकांगी समता, है। यह समता विभिन्नता को भी ला देती है। अंतिम दो पंक्तियों से वक्तव्य स्पष्ट है।

तुम जिसको हो समझ रहे भारी पहाड़ सा
वह तो कागज सा हल्का है। माथुर

एक ही वस्तु को पहाड़ और कागज के समान कहना परस्पर विरोधी है समझनेवालों की मनोवृत्तियाँ उसे उपमान के योग्य बनाती हैं।

रागियों को रहता है स्वरताल का खटका,
पहलवान को रहता पहलवान का खटका,
मुगलों को रहता सदा ईमान का खटका,
कंजूसों को रहता मेहमान का खटका,
गाँधी को रहता मिस्टर जिन्ना का खटका,
अंग्रेजों को रहता ईरान का खटका।

इस सुने हुए गीत में इतने खटकों की खटखटाहट है कि जी उकता जाता है। जहाँ तक खटके का संबंध है रागी, पहलवान आदि सभी तुलनात्मक दृष्टि से एक दूसरे के समान हैं पर अन्य विषयों में एक दूसरे के असमान हैं। खटके में ही दोनों का उपमानोपमेय भाव है।

तुलना में विरोध एक ही ढंग से नहीं किया जाता जिसके ऊपर उदाहरण आये हैं। गद्य में उसके अनेक प्रकार के रूप मिलते हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) "किसी हद तक दया-ममता तो भेड़ियों और कुत्तों तक में पायी जाती है पर तुम तो इन नीच पशुओं से भी बाजी मार लेना चाहते हो, निर्दयता में"।

यहाँ तुम में तो निर्दयता है पर उस निर्दयता की तुलनात्मक दृष्टि से विशेषता बतायी गयी है। यद्यपि भेड़िये और कुत्ते कम निर्दय नहीं होते।

(२) "बिगड़ैल घोड़े की पीठ पर चढ़ना सूद का हिसाब करना नहीं है, लोहे के चने चबाना है चने"।

सूद का हिसाब भी कठिन होता है पर उससे कठिन काम है लोहे के चने चबाना। इनसे घोड़े पर चढ़ने की समता विरोधरूप से की गयी है। यह एक मुहावरा भी है।

(३) "बंदर तो मनुष्य की आकृति के बहुत कुछ निकट का जीव है पर साबजी शायद मगर या इसी तरह के जघन्य जीवों में से एक थे"।

पशुता की दृष्टि से बन्दर से तुलना हो सकती है पर क्रूरता की अधिकता दिखाने की गरज से बंदर को छोड़कर मगर आदि सामने लाये गये हैं।

(४) "संसार में सभी चीजें सीमित होती हैं पर आशा आकाश से भी बड़ी है, मन से भी तीव्रगामिनी है, फूलों से भी लुभावनी है, इन्द्रधनुष ऐसी चटकदार है"।

सभी वस्तुयें सीमित हैं, इस प्रकार आशा भी एक प्रकार से सीमित कही जा सकती है पर इनका विरोध असीमता आदि में दिखलाया गया है। अनेक वस्तुयें लुभावनी और चटकदार होती हैं। अतः आशा से इनकी समता है।

इस प्रकार के विरोध में पूर्ण अप्रस्तुतयोजनायें काव्य में अतिशय चमत्कार पैदा करती हैं।

सोलहवाँ रंग—अप्रस्तुतयोजना में प्रेषणीयता

अप्रस्तुतयोजना वा अलंकार के प्रयोजनों में प्रेषणीयता (Communicability) का भी स्थान है। कोई बात हो, जब तक बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कही जाती, उसमें नमक-मिर्च नहीं मिलाया जाता, तब तक वह न तो प्रभावशालिनी ही होती है और न अपने जैसे दूसरों को अनुभव कराने में समर्थ ही होती है। एक बच्चा भी अपने विरोध को प्रभावित करने के लिये जोर से

चिल्लाता है और शरीर को थरथराने लगता है। फिर समर्थ कवि अपने भावों को वैसा ही दूसरों के अनुभव योग्य बनाने के प्रयत्न से कैसे बाज आ सकता है जब कि उसकी कविता का महत्त्व प्रभावशाली बनाने में अधिक माना जाता है।

प्रेषणीयता के लिये कल्पना और अतिशयोक्ति से काम लेना पड़ता है। इसमें कवि को संयम और सावधानी से काम लेना चाहिये। कल्पना की उड़ान में स्वयं नहीं उड़ जाना चाहिये। ऐसी कल्पना और अतिशयोक्ति चमत्कार पैदा कर सकती है पर भाव को उत्तेजक नहीं बना सकती। भावों में तीव्रता और प्रेषणीयता लाना अलंकारों की सार्थकता है। कुछ उक्तियों पर ध्यान दें—

"नौकरी में ओहदे की ओर ध्यान मत देना। यह तो पीर का मजार है। निगाह चढ़ावे और चादर पर रहनी चाहिये। ऐसा काम ढूँढ़ना जहाँ ऊपरी आय हो। मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चाँद है, जो एक दिन दिखाई देता है और फिर घटते-घटते लुप्त हो जाता है। ऊपरी आय बहता हुआ स्रोत है, जिससे सदैव प्यास बुझती है।" प्रेमचंद

"निरंजन की दशा कुत्ते के उस अभागे पिल्ले जैसी हो रही थी जिसकी गर्दन मजबूत पंजों से पकड़ कर, उसका नटखट मालिक घसीटता हुआ, उसी के त्यागे हुए मल पर उसका थुथना रगड़ने के लिये जा रहा हो। बेचारा पिल्ला अपनी निर्बल टाँगों को अड़ाकर इस घृणित दुर्गति से बचने का भगीरथ प्रयत्न करता हो, पर वह प्रतिक्षण आगे ही घिसटता जा रहा हो।" वियोगी

ये गद्योदाहरण इस बात के साक्षी हैं कि रचनाकारों के विषाद, लोभ, आवेग आदि भावों की प्रेषणीयता को अप्रस्तुतयोजना ने चार चाँद लगा दिये हैं। दूसरे में उपमान का एक सुन्दर चित्र है।

घन में सुन्दर बिजली-सी, बिजली में चपल चमक-सी,
आँखों में काली पुतली-सी, पुतली में श्याम झलक-सी,
प्रतिमा में सजीवता-सी बस गयी सुछवि आँखों में। प्रसाद

ये उपमान आँखों में छवि के बस जाने की बात को वस्तलीक बना देते हैं।

हो गये अधीर हर, गरजा ज्वलित हो,
धकधक करके करालानल भाल का।
जा छिपा तुरन्त वक्षस्थल में भवानी के
होकर सभीत शम्बरारि, सिंहसुत ज्यों

छिपता है सिंहनी के क्रोड़मध्य भय से,
होता जब घोर घनघोष और दामिनी
दृष्टि झुलसाती है करालै कालवह्नि-सी। मेघनादवध

भवानी के क्रोड़ में भवानी-भावन के भालानल से भयभीत होकर मदन के छिपने का जो चित्र उपमालंकार उपस्थित करता है उसका अनुभव सभी सहृदय करेंगे।

इन्द्र धनु सा आशा का सेतु अनिल में अटका कभी अछोर,
कभी कुहरे-सी धूमिल, घोर, दीखती भावी चारों ओर।
तड़ित-सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान प्रभा के पलक मार उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर गम्भीर मुझे करता है अधिक अधीर,
जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण खोजते हैं तब तुम्हें निदान। पंत

इसमें अप्रस्तुतयोजनाओं की बड़ी भरमार है। कितने उपमानों में सूक्ष्म साम्य का आधार है। ये सुन्दर होने के साथ भावव्यंजक भी हैं। इनसे जो मूर्ति-निर्माण होता है वह सहृदयों के हृदयों में घर कर लेता है।

देव-दम्पति के परस्पर पार्श्ववर्ती मन्दिरों के शिखर की ज्यों
युगल कलशी को कँपाता गूँज जावे
अगरु धूमिल आरती का नाद!
एवमेव
शमन में जीवन जगा धृति को चिरन्तन गति बनाकर
स्तब्ध स्वर
बोला हमारा प्यार—
नहीं उमड़ा वासना का ज्वार! अज्ञेय

नयी शैली की कविता का यह एक नमूना है। इसमें अपने भाव को अप्रस्तुतयोजना द्वारा पाठकों के मन में पैठाने की पूरी चेष्टा की गयी है।

प्रेषणीयता के लिये यह आवश्यक है कि वर्णनीय का विशद चित्रण हो और उसमें हृदय का रस इतना निचोड़ा जाय कि पाठक और कवि की एकात्मकता हो जाय।

सत्रहवाँ रंग—अप्रस्तुत की विशेषता

कल्पनाप्रिय कवि अपनी उड़ान में ऐसे स्वप्नलोक की सृष्टि करते हैं कि बेचारा प्रस्तुत कहीं नहीं रह जाता। कहीं तो स्पष्टतः उसका तिरस्कार होता देखा जाता है और कहीं-कहीं उपेक्षित भाव से वह रह जाता है। साधारण उपमेय-लुप्ता से इसमें विशेषता रहती है। इसमें अधिकतर कल्पना से ही काम लिया जाता है।

पुलकित कदंब की माला-सी पहना देती हो अंतर में
झुक जाती है मन की डाली अपनी फल भरता के डर में। प्रसाद

जैसे कदंब की माला का एक-एक फूल रोमांचित-सा प्रतीत होता है वैसे तुम (लज्जा) मन में एक भाव के अनन्तर दूसरे भाव का पुलक-संचार करती हो।

यहाँ 'कदंब की माला सी' यह केवल उपमान ही है, मन में भाव-पुलक का उठना रूप उपमेय का अभाव है। क्या पहना देती हो, यह उक्त नहीं है। पर अन्तर में लज्जा से जो-जो भाव उठते हैं उनसे एक सिहरण होना—एक गुदगुदी पैदा होना रूप उपमेय का स्वतः अनुमान या स्फुरण हो जाता है।

दूसरे चरण का अर्थ यह है कि फल के बोझ से जैसे डाल झुक जाती है वैसे ही लज्जा के अनेक भावों के बोझ से मन भी दब जाता है, वह कहना चाहता है, पर कह नहीं पाता।

इसमें जो उपमा है उसे बहुत-से विवेचक उपमालंकार की ध्वनि मानेंगे पर हम इसे मान नहीं सकते। कारण यह कि वाक्यार्थ रूप में ही उपमा है। क्योंकि बिना उपमा के सहारा लिये इसका अर्थ ही स्पष्ट नहीं हो सकता। मन की डाली का रूपक और फल-भरता और झुकना उपमा को ला खड़ा ही कर देते हैं। उपमा से किसी प्रकार पिंड नहीं छूट सकता। इसमें व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्यार्थ ही प्रधान है। इस अप्रस्तुतयोजना में उपमेय और उपमान घुल-मिल-से गये हैं।

वृद्ध सूर्य की आँखों पर माँड़ी-सी चढ़ी हुई है।
दम तोड़ती हुई बुढ़िया-सी दुनिया पड़ी हुई है। दिनकर

यहाँ 'माँड़ी-सी' उपमान का ही उल्लेख है, माँड़ी-सी कौन-सी वस्तु है, इसका उल्लेख नहीं है। पर यहाँ अर्थ यह भावित होता है कि सूर्य में

बादल से धुँधलापन आ गया है। माँड़ी छा जाने से आँखों की ज्योति जैसे धुँधली पड़ जाती है वैसे सूर्य की ज्योति धुँधली पड़ गयी है। उसमें वह प्रखरता नहीं है।

> मूक सुख-दुख कर रहे, मेरा नया शृङ्गार-सा क्या ?
> झूम गर्वित स्वर्ग देता वह धरा को प्यार-सा क्या ?
> आज पुलकित सृष्टि क्या करने चली अभिसार लय में
> कौन तुम मेरे हृदय में ? महादेवी

इसमें शृङ्गार-सा और प्यार-सा दो उपमान हैं। इन दोनों से किसी अलक्षित उपमेय का ही आभास मिलता है। यहाँ के प्रश्नवाचक 'क्या' यही सूचित करते हैं। यहाँ यह भी अर्थ किया जा सकता है कि यथार्थ शृङ्गार न होते हुए भी यह वैसा ही है; यथार्थ प्यार न होकर भी प्यार ही जैसा कुछ है। सुख-दुख कुछ कर रहे हैं; स्वर्ग कुछ दे रहा है। वे वैसे ही हैं जैसा कि शृङ्गार, जैसा कि प्यार। प्रत्येक में उपमेय का लोप है।

ऐसे अनेक प्रकार के उदाहरण हो सकते हैं, जिनमें उपमेय का लोप या उसकी उपेक्षा प्रतीत होगी।

इस प्रकार कविता में चमत्कार पैदा किया जा सकता है; उसमें रस निचोड़ा जा सकता है।

अठारहवाँ रंग—अप्रस्तुतयोजना में अन्योक्ति

समासोक्ति ही हिन्दी-संसार में अन्योक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत, ये ही दोनों उपमा में मुख्य हैं। अन्योक्ति में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का चमत्कार खूब दीख पड़ता है। अतः इस अप्रस्तुतयोजना को छोड़ा नहीं जा सकता। इसमें अप्रस्तुत सामने लाया जाता है। वह ऐसा परिचित और स्वाभाविक होता है कि उसका वर्णन समाप्त होते-न-होते प्रस्तुत झलक जाता है। अन्योक्ति के लिये यह आवश्यक है कि अप्रस्तुतयोजना हमारे किसी-न-किसी भाव की भूमि हो और प्रस्तुत में जीवन को स्पर्श करने की सामर्थ्य हो। जीवन की व्याख्या के विरुद्ध अप्रस्तुत रमणीय होने पर भी अन्योक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता।

बिहारी का यह दोहा अन्योक्ति के लिये बहुत प्रसिद्ध है और यही दोहा इस ग्रन्थ का मूल कारण माना जाता है।

> नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
> अली कली ही सों बँध्यो आगे कौन हवाल॥

जयपुर-नरेश किसी अस्फुटयौवना में इतने आसक्त हुए कि राजकाज छोड़ बैठे। इसपर बिहारी की अली-कली की अन्योक्ति काम कर गयी और वे उससे विमुख हो राज-काज की ओर उन्मुख हुए। इसमें अप्रस्तुत अली को लक्ष्य करके कही गयी सीधी बात का भी बड़ा असर हुआ। इस अप्रस्तुतयोजना ने जीवन की एक मार्मिक घटना को व्यक्त किया है। अन्य अन्योक्तियाँ लीजिये—

× × × × ×

भौंहे तान दिवाकर ने जब भू का भूषण जला दिया,
मा की दशा देखकर तुमने तब विदेश प्रस्थान किया।
वहाँ होशियारों ने तुमको खूब पढ़ाया, बहकाया,
'द' जोड़ मेंड बढ़ाया, तुमपर जाल फूट का फैलाया,
'जल' से 'जलद' कहा, समझाया, भेद तुम्हें ऊँचे बैठाल,
दायें बायें लगे रहे, जिससे तुम भूलो जाती ख्याल।
किन्तु तुम्हारे चारु चित्त पर खिंची सदा मा की तस्वीर,
क्षीण हुआ मुख,छलक रहा नलिनी-दल नयनों से दुखनीर।
पवन शत्रु ने तुम्हें उतरते देख उड़ाया पथ अम्बर,
पर तुम कूद पड़े, पहनाया मा को हरा वसन सुन्दर।
धन्य तुम्हारे भक्ति-भाव को दुःख सहे, डिगरी खोई,
ऊर्ध्वग जलद बने, निम्नग जल प्यारे प्रीति बेलि बोई। निराला

मैंने जब यह कविता पढ़ी तब अनायास एक ऐसे देशभक्त युवक का चित्र हमारे सामने प्रस्तुत हो गया जो विदेशियों से बहकाये जाने पर भी उनके फँदे में नहीं फँसा और अपना उद्देश्य सिद्ध करके ही रहा। हमें विश्वास है कि इस कविता को पढ़कर सभी सहृदय देशभक्त ऐसा ही समझेंगे। इस अप्रस्तुत वर्णन की रमणीयता, प्रभावशालिता और भावग्राहकता की ही महिमा है कि व्यङ्ग्य प्रस्तुत अनायास झलक जाता है। यह प्रस्तुत की जीवन-स्पर्शिनी क्षमता ही है।

जल उठे हैं तन बदन से, क्रोध में शिव के नयन से।
खा गये निशि का अँधेरा हो गया खूनी सवेरा।
जग उठे मुरदे बेचारे बन गये जीवित अँगारे।
रो रहे थे मुँह छिपायें आज खूनी रंग लाये। के० अग्रवाल

कोयले पर की गयी इस अन्योक्ति से श्रमिक हमारे सामने आ जाता

है। कोयला काला होकर भी आग से जलकर लाल हो उठता है वैसे ही आज कुरूप और मलिन मजूर भी चेतना के उद्बोधन से क्रोध में लाल अंगारे बन गये हैं।

प्रस्तुत के अभाव में अप्रस्तुत का यह खेल प्रशंसनीय ही नहीं, मार्मिक भी है।

उन्नीसवाँ रंग—अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना

अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना कहिये या व्यङ्ग्य रूपक, बात एक ही है और इसका रूप रूपकातिशयोक्ति का ही रहता है। व्यङ्ग्य रूपक का यह प्रसिद्ध उदाहरण है—

कमल पर जो चारु खंजन प्रथम,
पंख फड़काना नहीं ये जानते,
चपल चोखी चोटकर अब पंख की,
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को। पंत

इसकी नायिका मुग्धा ज्ञातयौवना है और कहनेवाली सखी व्यङ्ग्य-विदग्धा। प्रच्छन्न परिहास करना इसका स्वभाव है।

इसमें आँख, मुख और नायक प्रस्तुतों के लिये खंजन, कमल और भ्रमर अप्रस्तुत लाये गये हैं। ये प्रसिद्ध उपमान हैं पर इनकी योजना बड़ी मार्मिक है। इस योजना से इसका पुरानापन लापता हो गया है। जो नायिका आँख उठाकर नायक को देखने में भी संकुचित थी, वही अब इस समय अपनी भावभंगी से विकल करने लगी है। रसलोलुप नायक उसके लिये छटपटाने लगा है।

यहाँ व्यङ्ग्य रूपक लिखना भ्रामक है। रूपक में दोनों उपमेय उपमान उक्त रहते हैं। पर इसमें उपमान ही उक्त है। उपमान द्वारा समेटे हुए—उदरगत किये हुए उपमेय का अध्यवसान जहाँ होता है, वहाँ रूपकातिशयोक्ति ही होती है। ऐसे स्थानों में रूपक व्यङ्ग्य नहीं होता।

लहरें अधीर सरसी में तुमको तकतीं उठ-उठकर
सौरभ समीर रह जाता प्रेयसि! ठंढी साँसे भर,
हैं मुकुल मुँदे डालों पर, कोकिल नीरव मधुवन में;
कितने प्राणों के गाने ठहरे हैं तुमको मन में। पंत

कवि की प्रेयसी कैसी है, 'प्रतीक्षा' नामक कविता के इस पद्य से व्यञ्जित होती है। इसमें अप्रस्तुत-रूप-योजना द्वारा प्रस्तुत प्रेयसी के रूप-गुण का

वर्णन किया गया है। लहरों का उठ-उठकर देखना, समीर का ठंढी साँसें भरना, मुकुलों का मुकुलित रह जाना, कोकिल का नीरव होना और तुमको मन में लाकर प्राणों के गानों का ठहर जाना, सभी यह सूचित करते हैं कि प्रेयसी लहरों से भी अधिक चंचल और प्रफुल्ल है; फूलों से भी अधिक उसकी साँसें सुगन्ध भरी है; स्वर कोकिल के स्वर से भी मधुर है और अन्तर के गानों से भी अधिक उसके मीठे गाने हैं। इसीसे तो कोई सर्द आह लेता है, कोई चुप है और कोई जिस अवस्था में है उसीमें रह जाता है।

इसमें जो प्रस्तुत की व्यञ्जना है, वह वस्तु की है। यदि व्यतिरेक का भाव न होता तो उपमा अलंकार की व्यञ्जना समझी जाती। प्रेयसी के सम्मुख रहने से व्यंजना का रूप गुणी-भूत व्यङ्ग्य का-सा हो गया है। स्थूल रूप में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यंजना की बात कही जा सकती है।

बीसवाँ रंग—अप्रस्तुत-प्रस्तुत की एकात्मकता

आजकल बहुत-सी ऐसी कवितायें होने लगी हैं जिनमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत का भेद-भाव मिटता-सा जाता है। अधिकतर यह देखा जा रहा है कि अप्रस्तुतयोजना की ओर कवियों का झुकाव है। यह अभिव्यंजनावाद की प्रबलता का ही प्रभाव है। प्रभाव-साम्य की ओर कवियों का विशेष लक्ष्य होने से सादृश्य-साधर्म्य की उपेक्षा की जा रही है। ऐसी कविताओं में दोनों अप्रस्तुत और प्रस्तुत मिश्रित-से हो जाते हैं।

सोती हुई सरोज अंक पर
शरत् शिशिर दोनों बहनों के
सुख-विलास-मद-शिथिल अंक पर
पद्मपत्र पंखे झलते थे
मलती थी कर-चरण समीरण धीरे-धीरे आती—
नींद उचट जाने के भय से कुछ कुछ घबड़ाती।
बड़ी बहन वर्षा ने उन्हें जगाया—
अन्तिम झोंका बड़े जोर से एक
किन्तु क्रोध से नहीं, प्यार से,
अमल कमल मुख देख
झुक हँसते हुए लगाया सोते से उन्हें उठाया। निराला

'वनकुसुमों की शय्या' शीर्षक कविता की ये कुछ पंक्तियाँ हैं। मानवीकरण के कारण किसी न किसी रूप में प्रस्तुत तो मानना ही पड़ेगा पर इसमें वह प्रच्छन्न है, एक में घुल-मिल गया है। शरत् और शिशिर दोनों पर सुख-विलास में पली दो बहनों का अध्यवसान किया गया है। यहाँ समीरण दासी है। 'जूही की कली' में समीरण को नायक के रूप में लाया गया है। वर्षा बड़ी बहन है। इसमें आदि से अन्त तक एक प्रकार का सांग रूपक है। दोनों बहनों को पद्म-पत्र का पंखा झलना अस्वाभाविक है। क्योंकि शिशिर में कमल गल जाता है। दासी-समीरण डाँट-डपट खाने के भय से हाथ-पैर मलती थी। बड़ी बहन के नाते वर्षा के छोटी बहनों को झिड़कने का अधिकार था, पर प्यार से। उसने उन्हें हृदय से लगाकर उठाया।

शरत् और शिशिर में बहनों का सा कुछ सादृश्य नहीं। वे न सोतीं और न जागतीं। उनके सोने-जागने का भाव मन्द पड़ जाना और तीव्र हो जाना है। इसी धर्म का सादृश्य है। किन्तु शिशिर में हवा उनके विलास-विकास में हाथ बटाती है। वर्षा से ही इनका उत्थान होता है। यह साधर्म्य प्रभाव से खाली नहीं कहा जा सकता। पर ऐसी अप्रस्तुतयोजना से कवि कल्पना का इतना परवश हो जाता है कि गुणसाम्य के भाव को भूल ही जाता है, सम्भव-असम्भव का ध्यान ही नहीं रखता। यहाँ मानवी वृत्ति की इतनी प्रबलता है कि प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भाव मिट-सा गया है। अप्रस्तुत नारी रूप ही रह रहकर हमारे सामने आ जाता है। अप्रस्तुत से प्रस्तुत दब-सा गया है। पर लक्षणा के बल पर रूपक रस संचार में सर्वथा समर्थ है। रसानुभूति प्रबल है।

> नीले नभ के शतदल पर; वह बैठी शारद हासिनि
> मृदु करतल पर शशि मुख धर, नीरव अनिमिष एकाकिनि।
> वह स्वप्न जड़ित नत चितवन छू लेती अग जग का मन
> श्यामल कोमल चल चितवन जो लहराती जग जीवन। पंत

इसमें चाँदनी भी नारी की मनोहर मुख-मुद्रा को ही उपस्थित करती है। प्रस्तुत चाँदनी तो नीले आकाश पर बैठी रह गयी है। रूपक चाँदनी का सहायक तो होता है पर करतल, चितवन आदि उसको दबा बैठते हैं। प्रस्तुताप्रस्तुत मिले हुए-से हैं।

चतुर्थ रूप

उपमान विवेचन

पहला रंग—वातावरण और उपमान

जो जिस वातावरण में रहता है, अपने चतुर्दिक् में जो देखता है, उसीसे उपमान की सामग्री का संग्रह करता है। वैदिक काल के ऋषियों के समक्ष प्रकृति का ही प्राङ्गण खुला था और उसीसे वे अपने उपमान चुनते थे।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते,
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति। मुण्डक ३।१

साथ-साथ रहनेवाले तथा समान आख्यानवाले दो पक्षी एक वृक्ष का अवलंबन करके रहते हैं। उनमें एक तो स्वादिष्ट (मधुर) पिप्पल (कर्म फल) का भोग करता है और दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है।

इसमें जीवात्मा और परमात्मा के लिये दो पक्षियों की रूपकातिशयोक्ति के रूप में अवतारणा की गयी है। यहाँ उपमान ही प्रकट है।

अरण्यवासी वाल्मीकि मुनि के वाल्मीकि रामायण में प्रकृति और प्राकृतिक जीवों के उपमानों की ही भरमार है। उनके समक्ष जो था वही उपमान रूप में आया है।

तमार्तं देवसंकाशं समीक्ष्य पतितं भुवि।
निकृत्तमिव शालस्य स्कन्धं परशुना वने। अयो० ७२।२२

भूमि में पड़े हुए देवतुल्य दशरथ ऐसे प्रतीत होते थे जैसे कुठारच्छिन्न वन का शालस्कन्ध हो।

अब्रवीत् लक्ष्मणः क्रुद्धो रुद्धो नाग इव श्वसन्। अर० २। २२

राम को शोकार्त देखकर नाग जैसे निःश्वास छोड़ते हुए लक्ष्मण बोले। यहाँ नाग का अर्थ सर्प ही ठीक है, हाथी नहीं। अन्यत्र 'निःश्वसन्निव पन्नगः' उक्त है। क्रोधी के श्वास के लिये क्रुद्ध सर्प की फुफकार ही प्रसिद्ध है।

वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पकः ।
मत्तः प्रियतरो लोके पर्जन्य इव वृष्टिमान् । अयो० ११३८

सर्वभूत-दयालु तथा लोक-हितकामी राम वर्षणशील मेघ के समान लोक में मुझसे भी प्रियतर हैं ।

ददर्श पर्णशालां च सीतया रहितां तदा ।
श्रिया विरहितां ध्वस्तां हेमन्ते पद्मिनीमिव ।

सीता से रहित पर्णशाला को राम ने इस भाँति देखा जैसे हेमन्त में श्रीहीन ध्वस्त पुष्करिणी हो ।

कालिदास में यह बात नहीं थी । संस्कृति तथा सभ्यता से प्रशस्त भारत में उन्होंने अपनी आँखें खोली थीं और तदनुरूप ही अपने उपमानों का आविष्कार किया था । उनकी सृष्टि परिस्थिति के अनुकूल ही थी । वे जब गाँव की स्त्रियों का वर्णन करते हैं तब उनके नेत्रों के सम्बन्ध में कहते हैं—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैः जनपदवधूलोचनैः पीयमानः । मेघ । १०

कृषि की सफलता तुम्हारे ही अधीन है, इससे गाँव की स्त्रियाँ प्रीतितरल अचंचल तथा भौंहों के विलासों से अनभिज्ञ लोचनों से सादर देखे गये तुम...। वे ही जब पुरवासिनी वनिताओं का वर्णन करते हैं तब कहते हैं—

विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि । मेघ । २७

वहाँ पुरवासिनियों के बिजली की चमक जैसी चकाचौंध करनेवाले चंचल कटाक्षों का मजा न लूटा तो समझना कि आँखों का होना बेकार ही है। वनवासिनी शकुन्तला वर्णन का देखें—

इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन ।
वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण । शकुन्तला

शकुन्तला वल्कल पहने हुई है जिसने स्तनमण्डल को घेर रक्खा है, और कन्धे पर जिसमें गाँठ बँधी हुई है। इससे शकुन्तला का अभिनव शरीर अपनी शोभा को उसी भाँति प्रकट नहीं कर पाता जैसे पीले पत्रों में छिपा हुआ फूल ।

जब गौतमी और, शकुन्तला के साथ शाङ्गरव और शारद्वत नगर में प्रवेश करते हैं, तब तपोवनवासी शारद्वत की मानसिक अवस्था का जो वर्णन कालिदास करते हैं उसके उपमान ठीक वातावरण के अनुकूल भावव्यञ्जक हैं।

> अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
> बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसंगिनमवैमि। शकुन्तला

इस राजकुल का सुखमग्न जन मुझे उसी भाँति जान पड़ता है, जैसे स्नान किये हुए व्यक्ति को तैलाक्त व्यक्ति, पवित्र व्यक्ति को अपवित्र व्यक्ति, प्रबुद्ध व्यक्ति को सुप्त व्यक्ति, और स्वच्छन्द व्यक्ति को बद्ध व्यक्ति ज्ञात होता है।

वातावरण से अभिप्राय यही है कि उपमानों का महत्त्व तभी है जब कि वह परिस्थति के अनुकूल हो, जिस सभ्यता, संस्कृति और समाज, में साहित्य का उद्भव हो, उन्हीं के योग्य उपमान लिये जायँ। देश-काल-दशा के अनुरूप ही उनकी योजना हो। साथ ही उसके विषय में कवि मार्मिक अनुभूति रखता हो। बिना मर्मज्ञता के अप्रस्तुत की किसी भाँति की योजना अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं कर सकती। हिन्दी के आधुनिक कवि इन बातों की उपेक्षा करते हैं और उनकी योजना उपहासास्पद होती है। एक उदाहरण लें—

> उर की अविकच पंखड़ियों से वह सौरभ सी उड़ आती।

कवि का हृदय कविता के लिये उर्वर नहीं है। इसका निर्देश अविकच करता है। पंखड़ियाँ जब अस्फुटित हैं तब उसमें सौरभ कहाँ से आ गया कि वह उड़ने लगा! यह क्रिया तो उर की अनुर्वरता ही प्रकट करती है। क्योंकि कविता निर्बाध उससे बाहर हो रही है। यहाँ पंखड़ियों की योजना परिस्थिति या वर्णन के अनुकूल नहीं। इससे भाव की भूमि ऊबड़-खाबड़ हो गयी है जिससे हृदय को ठेस लगती है।

सिन्ध प्रदेशवासी शस्यश्यामला धरणी की धारणा नहीं कर सकते। पुरी के प्राणी शिमला के शैल का अनुभव स्वाभाविक रूप से नहीं कर सकते। इन सब बातों का ध्यान अप्रस्तुतयोजना में उपमान लाने में आवश्यक है।

दूसरा रंग—सामयिक उपमान

जिस वातावरण में मनुष्य अपने सामाजिक जीवन को व्यतीत करता है तदनुकूल ही उसके आचरण होते हैं। कवि भी एक सामाजिक प्राणी है। इससे वह बाहर कैसे जा सकता है, सामाजिक जीवन में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इसके अनेक कारण हैं। मुख्य बात यह है कि कवि जिस परिस्थिति में रहता है उसीमें अपने को बँधा हुआ पाता है। इससे वह परिवर्तित सामाजिक अवस्था से ही अपनी अप्रस्तुतयोजना करता है—उपमान ढूँढ़ निकालता है।

बंजुल निकुञ्जन में मंजुल महल मध्य,
मोतिन की झालरें किनारिन में कुरविंद।
आइगे तहाँ ज्यों पद्माकर पियारे कान्ह,
आनि जुरि गये त्यों चवाइन के नीके वृंद।
बैठी फिर पूतरी अनूतरी फिरंग कैसी
पीठ दै प्रवीनी दृग दृगन मिलैं अनिंद;
आछे अवलोकि रही आये रस मंदिर में
इंदीवर सुन्दर गुविंद को मुखारविंद। पद्माकर

इसमें 'फिरंग कैसी' एक अप्रस्तुतयोजना है। यह उपमान समाज में नवागत अंग्रेज के भाव को लक्ष्य कर लाया गया है। उस समय अंग्रेजी भाषा का ऐसा प्रचार नहीं था। अंग्रेज यहाँ की भाषा नहीं जानते थे। इससे वे अपने भाव को दूसरों पर प्रकट कर नहीं सकते थे और प्रायः अनुत्तर रह जाते थे—बिना कुछ कहे सुने चुप लगा जाते थे।

नायिका मंजुल महल में बैठी हुई थी जिसमें दर्पण लगे हुए थे। इसी समय प्यारे आ गये और उनके आते ही बात चलानेवाली—कुटनियाँ भी आ गयीं। इससे पीठ फेर कर वह दर्पण में कृष्ण का मुखारविंद देखने लगी और इससे अपनी उदासीनता भी प्रकट की। इस क्रिया-चातुरी द्वारा परपुरुषानुराग को व्यक्त करनेवाली क्रियाविदग्धा नायिका में अनुत्तर होने का जो साधर्म्य है उसीको फिरंग के उपमान से उपस्थापित किया गया है। समाज में उनके नये प्रवेश का लक्ष्य ही इस उपमान का कारण है।

कोयले की खान की मजदूरनी सी रात
बोझ ढोती तिमिर की विश्रांत सी अनुदात। रा० राघव

यह प्रगतिवादी कवि की कविता है। इसमें नवीनता तो है ही, भावुकता

भी है। कोयला ढोते-ढोते मजदूरनी जैसी काली हो जाती है वैसी ही काली रात है। रात अन्धकार का बोझ ढोती है और अन्धकार का प्रतीक स्वरूप कोयला भी काला है। जैसे रात को अन्धकार से होनेवाले सुख-दुख का ज्ञान नहीं वैसे मजदूरिन को भी कोयले से सोना बनने की बात का कैसे ज्ञान हो सकता है। इसमें नवीनता और भावुकता के साथ यथार्थवादिता भी है। यह उपमान समाज से ही लिया गया है।

गोजई में है जौ की बहार गेहूँ केवल दो तीन चार,
जैसे कि पुलिस में यहाँ मिली मुसलिम संख्या अब भी अपार।
यह प्रान्त स्वयं ही गोजई है। गोजई खावो, गोजई।

युक्त प्रान्त में गेहूँ का जब अभाव हुआ तब कंट्रोल से गोजई दी जाने लगी। दूसरी पँक्ति की अप्रस्तुतयोजना समाज को सामने रखकर ही की गयी है। हिन्दू-मुसलिम मिला युक्तप्रान्त गोजई जैसा ही मिला-जुला है। इसमें भाव की गहराई नहीं है पर यथार्थवादिता में कौन सन्देह करेगा? इसमें नवीनता के साथ सामयिकता भी है और सामाजिकता भी।

इसीको कहते हैं अवस्था अनुकुल व्यवस्था और परिस्थिति की परवशता। यह बात केवल शिक्षित में ही नहीं, अशिक्षित ग्राम्य जनता में भी देखी जाती है। प्रबल विरहाग्नि के दाह के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन से प्राचीन काव्य भरे पड़े हैं पर अब गैस और बिजली के दाह के सामने आग की दाह को कौन पूछे! एक देहाती कहता है—

गवना कराय हाय पिया गइले परदेश
मोरे हियरा में हाय बरेला अब गेस।

बेचारी गाँव की गोरी विरहाग्नि से जली नहीं जाती, उसके हृदय में गैस जलती है। गैस वह दहकती नहीं, जलती है और घुट-घुटकर जलती रहती है।

बंदा भी इस कदर दौड़े कि मोटरकार हो जावे
अगर सौ कोस पर दिलदार का दीदार हो जावे।

यहाँ मोटरकार दौड़ की गति की तीव्रता का द्योतन करती है।

समय की गति में जब सभी अपने को गतिशील बनाये हुए हैं तो कवि ही क्यों पिछड़े रहें।

तीसरा रंग—असुन्दर उपमान

काव्यानन्द का उपभोग तभी सम्भव है, जब काव्य का कलेवर कलामय होने के साथ अनुभूति की विभूति से भी सम्पन्न हो। कवि का कर्म है अनुभूति को सौन्दर्य प्रदान करना। कवि सुन्दर को निरखता है, परखता है और हरखता है, हरखाता है। इससे उसका उपमान सुन्दर होना चाहिये। असुन्दर उपमान भावबोधन में असमर्थ होता है। प्रभावोत्पादक बनाना तो उसके लिये असंभव ही है। बड़े-बड़े कवि भी कभी-कभी उपमान की सुन्दरता पर ध्यान नहीं देते।

चिर मुक्त पुरुष वह कब इतने अवरुद्ध श्वास लेगा निरीह।
गति हीन पंगु सा पड़ा-पड़ा ढहकर जैसे बन रहा डीह। प्रसाद

चिरमुक्त पुरुष बंधन में पड़कर सदा नहीं रह सकता, यही इस पद्य का भावार्थ है। गति-हीन विशेषण यहाँ उतना सार्थक नहीं है। क्योंकि पंगु शब्द ही गति-हीनता का बोध कराता है। मुक्त पुरुष का अवरुद्ध पड़ा रहना, पंगु-सा पड़ा-पड़ा रहना उपमान उतना असुन्दर नहीं, जितना कि डीह। मकान ध्वस्त होकर खँडहर हो जाता है। इसके लिये 'ढहकर डीह' आया है। एक तो गतिशील व्यक्ति के लिये यह गतिहीन उपमान है। दूसरे यह इतना भावहीन है कि मुक्त पुरुष की स्वतन्त्रता की भी मिट्टी पलीद कर देता है। केवल स्थिरता का धर्म लेकर ही यह योजना की गयी है जो कवि के महत्त्व के अनुरूप नहीं है। यह उपमान पढ़ने में अच्छा नहीं लगता। भावाभिव्यञ्जन में भी नितान्त असमर्थ है।

क्वाँर की सूनी दुपहरी
श्वेत गरमीले रुएँ से बादलों में
तेज सूरज निकलता, फिर डूब जाता। गि० कु० माथुर

रुएँ का उपमान असुन्दर ही नहीं, सदोष भी है। यहाँ 'रुएँ से' से कवि का अभिप्राय बाल से है। वृद्धावस्था में शरीर के रोएँ भी श्वेत हो जाते हैं। किन्तु वे यत्र तत्र ही होते हैं। उनमें घनता नहीं होती। पत्तों में भी रोएँ होते हैं पर वे भी सघन नहीं होते। बादल में घनता है, तभी तो सूरज छिप जाता है। घनता न होने से रोओं का गरमीला होना भी प्रकृति-विरुद्ध है। अतः कवि का अभिप्रेत बाल ही ज्ञात होता है। पर रुएँ तदर्थ-बोधक नहीं हैं। इससे पंतजी की श्वेत बादलों के लिये धुनी हुई रूई की अप्रस्तुतयोजना कहीं उत्तम है। बादल में जलांश अधिक होता है। उसमें तेज सूरज के डूबने से

गरमी पैदा नहीं हो जाती। क्योंकि फुहियाँ या बूँदें गरम नहीं होतीं। इससे गरमीले की संगति नहीं बैठती। यों तो गरमीला विशेषण ही व्यर्थ है। आल स्वतः गर्म होते हैं। गरमीले लिख देने से रुएँ गर्म नहीं हो जा सकते।

एक अंग्रेज कवि ने अपनी प्रेयसी को 'O my love' को मेढ़क (frog) की उपमा दी है। मालूम नहीं, उसने कौन-सी मेढ़क की विशेषता उस नायिका मे देखी थी जो उसे मेढ़क बना डाला। मेढ़क का कोई विशिष्ट गुण प्रसिद्ध नहीं है। यदि मेढ़क की प्लुति—उछलने की विशेषता ली जाय तो वह असुन्दर उपमान ही कहा जायगा।

गगन की निर्द्वन्द्वता, जग की अँधेरी बन गयी है,
भूँकते कुत्ते लटकती जीभ थर-थर काँपती ज्यों,
रात के चिथड़े न नभ को, ढाँक पाते और चेचक,
के पके से दाग से तारे, लगे हैं झलमलाने। रा० राघव

अँधेरी बनी गगन की निर्द्वन्द्वता के लिये कुत्ते की थर-थराती जीभ का उपमान और तारों के लिये चेचक के पके दाग के उपमान बड़े ही असुन्दर हैं। प्रथम उपमान की समता अनुमेय ही है। न इसमें सादृश्य है और न साधर्म्य। वर्णन भी अस्वाभाविक है। भूँकने के समय कुत्ते की जीभ नहीं लटकती। लटकती भी है तो उसे बाहर कढ़ आना ही कहा जा सकता है। थर-थर काँपना तो अतिशयोक्ति को भी पार कर गया है। उसकी यह अवस्था गरमी से व्याकुल होने पर ही होती है। थर-थर काँपने का भाव अँधेरी में लक्षणा से ही कथंचित् आ सकता है। तारों के अप्रस्तुत चेचक के पके दाग सादृश्य तो लाते हैं पर पके दागों का कुत्सित परिणाम घृणोत्पादक ही होता है। यह अप्रस्तुतयोजना तारों को सुन्दर के बदले असुन्दर बना देती है।

दिन के बुखार रात्रि की मृत्यु
के बाद हृदय पुंसत्व हीन,
अन्तर्मनुष्य रिक्त सा गेह
दो लालटेन से नयन दीन। म० मुक्तिबोध

नयन के लिये लालटेन का उपमान अत्यन्त ही असुन्दर है। जो नयन मीन, खंजन कंज की तुला पर तौले गये वे अब ऐसे उपमानों के योग्य समझे जाने लगे। जिन नयनों के सम्बन्ध में जहाँ कवि समुदाय यह कहता आ रहा है—

१ जँह-जँह नयन-निपात तँह-तँह सरोरुहपात। विद्यापति
२ देव-कामिनी के नयनों से जहाँ नील नलिनी की सृष्टि। प्रसाद
३ दृष्टि फेरी तुमने जिस ओर खिल गई कमल-पंक्ति अम्लान। पंत

वहाँ लालटेन सामना करे तो इसे कविता-कामिनी का दुर्भाग्य ही कहना चाहिये। दुःख है कि नये कलाकार उसे शूर्पणखा बनाने चल पड़े हैं। "कालस्य कुटिला गतिः"।

लालटेन दीन नहीं होती। लक्षणा से लालटेन को क्षीणज्योति वा हतप्रभ कहा जा सकता है। इस अर्थ में उसकी दीनता मानी जा सकती है। आँखें प्रकाश-पुञ्ज हैं। उनकी ज्योति भी छिटकती है पर वे लालटेन के समान प्रकाश फैलाकर अन्धकार दूर नहीं करतीं। यह कवि-समय-ख्याति में परिगणित नहीं है। एक लालटेन की दीनता से काम न चला। दो लालटेनों की दीनता दिखलानी पड़ी। प्रतिभा के प्रकाश में दो आँखें छिप न सकीं। गैसबत्तियाँ होतीं तो क्या कहना! नयन दीन हैं। क्यों? वर्णन से कोई वैसा भाव नहीं स्पष्ट होता। सम्भव है पुंसत्वहीन हृदय का प्रभाव हो। इस कविता में नयनों के उपमान कैसे हैं और वे क्यों दीन हैं। देखिये—

मदभरे ये नलिन नयन मलीन हैं,
अल्प जल में या विकल लघु मीन हैं?
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी
बीत जाने पर हुए ये दीन हैं? निराला

सुन्दर उपमान का सार तत्त्व यह है। पाठकों के मन में वस्तु-विशेष के सम्बन्ध में एक धारणा बँध-सी गयी है कि अमुक वस्तु सुन्दर है और अमुक वस्तु असुन्दर। क्या आकार-प्रकार हो, क्या रंग-रूप हो, क्या स्वभाव-सम्बन्ध हो और क्या गुण-धर्म हो, बँधी हुई धारणा के विपरीत होना ही उसकी असुन्दरता है। उसकी प्रकृति-विरुद्धता है। सुन्दर वस्तु के लिये सुन्दर, असुन्दर वस्तु के लिये असुन्दर अप्रस्तुतयोजना संगत, रुचिकर और स्वाभाविक प्रतीत होती है। सुन्दर वस्तुओं के लिये असुन्दर उपमान भी लाये जाते हैं, पर वे दूषित समझे जाते हैं। मर्यादापालनपूर्वक ही रूढ़ि भंग प्रशंसनीय होता है। शुक्ल जी लिखते हैं—"सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है, जो प्रस्तुतों के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, प्रचंडता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते हैं।"

चौथा रंग—विशेष्यविशेषणमूल उपमान

उपमान भी एक प्रकार के विशेषण ही होते हैं। किन्तु इन दोनों में विशेष अन्तर है। पूर्णोपमा की तो कोई बात ही नहीं, लुप्तोपमा से भी ये भिन्न होते हैं। इनका अस्तित्व ही पृथक् है। कारण इसका यह है कि इसमें ऐसी वस्तु का नाम निर्देश रहता है जो उपमान का काम दे देते हैं।

१ बिखर जाती जुगुनुओं की पाँति भी
जब सुनहले आँसुओं के हार सी।

२ अवनि अंबर की रुपहली सीप में
तरल मोती सा जलधि जब काँपता। महादेवी

इनमें 'सुनहले' कहने से सोने के रंग जैसे रंगवाले आँसू का बोध होता है और 'रुपहली' कहने से यह बोध होता है कि रूपा जैसी स्वच्छ सीपी।

इन कनक रश्मियों में अथाह
लेता हिलोर तमसिन्धु जाग। महादेवी

इसमें 'कनकरश्मि' समस्त है। इसका अर्थ होता है 'सोने की रश्मि जैसी प्रकाशोज्ज्वल रश्मियाँ'। यह उक्त उदाहरणों से भिन्न है।

कनक से दिन, मोती सी रात
सुनहली साँझ गुलाबी प्रात। महादेवी

बात वही है जो ऊपर वर्णित है। केवल कहने का ढंग निराला है।

देखता हूँ जब पतला इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघुट बादल सा खोलती है कुमुद कला। पंत

इसमें आये हुए 'इन्द्रधनुषी' और 'रेशमी' दोनों विशेषण भी ऐसे ही हैं। लाक्षणिक रूप में आये विशेषण के-से विशेष्य भी उपमान के काम देते हैं।

वह मृदु मुकुलों के मुख में भरती मोती के चुम्बन
लहरों के चल करतल में चाँदी के चंचल उडुगन। पंत

यहाँ उडुगन को चाँदी के कहने का अभिप्राय यह है कि चाँदी जैसी स्वच्छ और चमकीली होती है वैसे उडुगन भी उज्ज्वल हैं।

यहाँ सुख सरसों शोक सुमेरु, अरे जग है जग का कंकाल।
वृथा रे ये अरण्य-चीत्कार, शांति सुख है उस पार। पंत

यहाँ न तो सुख सरसों है और न शोक ही सुमेरु। ये यह इंगित करते हैं कि सुख थोड़ा और दुःख बहुत है। इस बात को ये विशेष्य रूप में ही लक्षणा से निर्देश करते हैं और उपमान का काम देते हैं।

हाय रुक गया यहीं संसार, बना सिंदूर अँगार। पंत

सिंदूर अंगार बन गया। अर्थात् अंगार जैसा दाहक होता है वैसा ही लाल सिंदूर भी बाल-विधवा को पीड़ादायक हो गया। विशेष्य रूप में उपमान है।

बिछे हुए थे काँटे उन गलियों में
जिनसे मैं चलकर आयी—
पैरों में छिद जाते जब
आह भर मैं तुम्हें याद करती तब
राह प्रीति की अपनी—वही कण्टकाकीर्ण,
अब मैं ते कर पायी। निराला

यहाँ कण्टकाकीर्ण विशेषण लक्षणा से यह साम्य उपस्थित करता है कि कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलना जितना कष्टकर प्रतीत होता है प्रीति का मार्ग भी उतना ही कष्टकर होता है और उसका पार करना सहज नहीं। कविता में विशेषण उपमान रूप में ही है।

कौन हो तुम बसन्त के दूत विरस पतझड़ में अति सुकुमार।
घन तिमिर में चपला की रेख तपन में शीतल मन्द बयार।
नखत की आशा किरण समान हृदय के कोमल कवि की कांत,
कल्पना की लघु लहरी दिव्य कर रही मानस हलचल शांत।
—प्रसाद

'विरस पतझड़ में बसन्त के दूत' के आरोप से यही अर्थ यहाँ प्रकट होता है कि पतझड़ में बसन्तागम के समान तुम मेरे विरस जीवन में सुख-संचार के आशास्वरूप हो। जैसे घनान्धकार में बिजली की एक लकीर जोत छिटका जाती है वैसे मेरे मन का अन्धकार तुम से दूर हो रहा है। ग्रीष्म में शीतल मन्द पवन जैसी तुम सुखदायक प्रतीत हो रही हो। तुम्हारे दर्शन से मन की हलचल उसी प्रकार शान्त हो जाती है जैसे कवि का कोमल हृदय एक छोटी-सी सुन्दर कल्पना की लहर उठने से शान्त हो जाता है।

श्रद्धा के ऊपर अप्रस्तुत रूप में इन सबों का आरोप किया गया है पर ये सभी विशेषण उपमान रूप में प्रयुक्त होकर ही अपनी सार्थकता प्रकट करते हैं।

ये आरोपित विशेषण उपमान के ही काम देते हैं। सभी आरोप ऐसे नहीं होते, यद्यपि आरोप का कारण समता ही होती है।

अरी व्याधि की सूत्रधारिणी अरी आधि, मधुमय अभिशाप। प्र०

इसमें व्याधि की सूत्रधारिणी, आधि या अभिशाप उपर्युक्त विशेषण के समान चिन्ता के उपमान के रूप में नहीं, वल्कि रूपक के रूप में आरोपित है। इनसे उपमान का रूप नहीं खड़ा होता। क्योंकि इनमें वैसी वस्तुयें नहीं हैं और न उपमानोपमेय की प्रासंगिक बात।

नित्य ही मानव तरंगों में अतल मग्न होते हैं कई पर इस तरह
अमृत की जीवित लहर की बाँह में जगत में कितने अभी डूबे भला। पंत

यहाँ नायिका को अमृत की जीवित लहर बताना उपमान का चित्र नहीं खड़ा करता। विशेषता रूपक की ही है।

अह सुरा का बुलबुला, यौवन धवल,
चन्द्रिका के अधर पर लटका हुआ। पंत

'सुरा का बुलबुला' विशेषण लक्षणा से यौवन की मादकता और क्षणभंगुरता की समता उपस्थित करके उपमान का काम करता है।

पाँचवाँ रंग—प्रतीकात्मक उपमान

उपमा में प्रस्तुत और अप्रस्तुत की पृथकता दिखलायी जाती है और रूपक में वे एकरूपता को प्राप्त कर लेते हैं। प्रतीक दोनों का स्थान ग्रहण कर लेता है।

जब हम कहते हैं 'काँटों ने भी पहना मोती' तब हम वही दृश्य उपस्थित करते हैं कि कठोर हृदयवाले को भी आँखों में आँसू आ गये। काँटा कठोरता और कुटिलता का प्रतीक है। क्योंकि उसका रूप ही ऐसा है। ओस बिंदु का प्रतीक मोती है। वे उज्ज्वल और गोल होते हैं। आँसू से उनका साम्य हो जाता है। इसमें काँटा और कठोर हृदय उपमान और उपमेय, दोनों का स्थान एक ही ने ग्रहण कर लिया है। ऐसा ही मोती भी जल-बिंदु को अपने में समेटे हुआ है। प्रतीक स्वरूप उपमान काव्य के प्राण हैं।

"तथास्तु शकुन्तले ! पर यह तो बतलाती जावो कि दुष्यन्त का विदूषक आया है या दुर्वासा।"

विदूषक दुष्यन्त का सहचर मित्र था, एक प्रकार से शकुन्तला के मिलन में सहायक था पर दुर्वासा दुष्यन्त के शत्रु सदृश थे। उन्होने ही शकुन्तला को शाप देकर दुष्यन्त का वियोग कराया था। यहाँ विदूषक और दुर्वासा के प्रतीक से ही यह भाव विदित होता है।

यह विशद जीवन कि जो आकाश-सा,
या कि निर्झर-सा चपल लघु तीव्र है।
क्या पूर्ण है? क्या तृप्ति पाता शीघ्र है,
वह ग्रीष्म सा है या मदिर मधुमास सा। ग० मुक्तिबोध

इसमें ग्रीष्म उदासी, नीरसता, शिथिलता, दुखदायकता आदि का प्रतीक है। क्योंकि ये सब बातें ग्रीष्म काल में अनुभूत होती हैं। इसके विपरीत वसन्त है। इसमें उल्लास है, हर्ष है, सरसता है, स्फूर्ति है। क्या नहीं है,सभी सुख के साधन हैं। जीवन के लिये प्रतीक रूप में ये अप्रस्तुत उसके रूप को प्रत्यक्ष रूप में रख देते हैं।

अनेक प्रतीक अप्रस्तुत रूप में लाये प्रतीत नहीं होते पर वे उपमान का काम देते हैं।

झँझा झकोर गर्जन था बिजली थी नीरदमाला,
पाकर इस शून्य हृदय को सब ने आ डेरा डाला। प्रसाद

भावार्थ यह कि प्रिय के वियोग में यह शून्य हृदय दुखदायी भावों का अखाड़ा बन गया है। इसमें झंझा झकोर, हृदय को मथनेवाले क्षोभ, आकुलता जैसे तीव्र भावों के लिये, बिजली उठनेवाले दर्द, टीस के लिये, और नीरदमाला उदासी तथा अन्धकार के लिये प्रतीक रूप में आये हैं। कहने का अभिप्राय यह कि झंझा-झकोर के समान हृदय में क्षोभ आदि भाव उठ रहे थे, बिजली-सी रह-रहकर टीस पैदा होती थी और काले मेघ-सा अन्धकार वा काली घटा-सी उदासी छा रही थी।

ग्रास करने नौका स्वच्छन्द घूमते फिरते जलचर वृन्द।
देखकर काला सिन्धु अनन्त हो गया हा! साहस का अन्त। महादेवी

इसमें नौका जीवन के लिये, जलचर वृन्द सांसारिक कुवासनाओं के लिये और सिन्धु संसार के लिये प्रतीक रूप में आये हैं। इनसे यही व्यक्त होता है कि संसार सिन्धु-सा ही अनन्त तथा अगाध है। कुवासनाओं के

समान जलचर वृन्द है। क्योंकि वासनायें भी उनके समान ही घातक हैं। नौका के समान जीवन भी संसार-सागर में तैरता रहता है—जीवन के दिन बिताता जाता है।

छिपटे सोते थे मन में, सुख दुख दोनों ही ऐसे,
चन्द्रिका अँधेरी मिलती, मालती कुंज में जैसे। प्रसाद

सुख दुख के उपमान चन्द्रिका-अँधेरी हैं। ये साधारण उपमान स्वरूप ही नहीं है, प्रतीक-स्वरूप भी हैं। इसी प्रकार हमारे जीवन में सुख-दुख दोनो की स्थिति है। प्रतीक रूप में सुख को स्वच्छ और दुख को अन्धकार का रूप दिया गया है। उपमान रूप में इनका अर्थ यही है कि कुंज में चाँदनी रात की चाँदनी तो रहती ही है, लताओं के झुरमुट के कारण अँधेरी भी रहती है।

कभी तो अब तक पावन प्रेम नहीं कहलाया पापाचार।
हुई मुझको ही मदिरा आज हाय! क्या गंगाजल की धार। पंत

गंगाजल पवित्रता के लिये और मदिरा अपवित्रता के लिये प्रतीक के रूप में व्यवहृत हैं। भावार्थ यह कि गंगाजल की धारा के समान पवित्र प्रेम मदिरा के समान पापाचार नहीं हो सकता।

कुछ प्रतीक ऐसे हैं जो कठिनता से उपमान का काम देते हैं। स्पष्टतः वे अपना भाव ही झलका देते हैं।

वहाँ नयनों में केवल प्रात, चन्द्र ज्योत्स्ना ही केवल गात,
रेणु ही छाये रहते पात, मंद ही बहती सदा बयार
हमें जाना उस जग के पार। निराला

इसमें प्रात, चन्द्रज्योत्स्ना और रेणु स्फूर्ति, शांति और शीतलता के प्रतीक हैं। यह प्रात स्फूर्ति, जागरण, उन्मेष आदि का ही बोध कराता है। उपमान का रूप खड़ा नहीं करता। ऐसा ही रेणु भी प्रतीक है। पर चन्द्रज्योत्स्ना गात का उपमान रूप में प्रतीक है। अन्योक्तिमूलक भी प्रतीक होते हैं। नीचे के पद्य में प्रतीक अन्योक्ति रूप में है—

अनुज सूर्य का पतन यह, सुखद हुआ किसको नहीं?
चकवाक पर मन्दमति दुखी हुए हैं व्यर्थ ही। रा० च० उ०

यह कवि-समय-प्रसिद्ध है कि सूर्यास्त के उपरान्त चकवा-चकई अलग हो जाते हैं। जो वियुक्त हैं उनके लिये भी रात्रि का आगमन दुःखदायी होता

है। इस वियोग को लेकर ही हम चकवे से विरही का वा चकई से विरहिणी की साम्ययोजना कर देते हैं। इसीसे राम कहते हैं—

विरही होना कोक को इष्ट न था पर क्या करे,
मुझ सा वह भी विकल है होनहार कैसे टरे। रा० च० उ०

प्रतीक में ऐसी शक्ति होनी चाहिये जो अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत के साम्य की भावना को श्रवणमात्र से जगा दे।

लक्षणा-मूलक प्रतीक भी उपमान के रूप में लाये जाते हैं।

उषा का था उर में आवास मुकुल का मुख में मृदुल विकास।
चाँदनी का स्वभाव में भास, विचारों में बच्चों के साँस। पंत

इसमें उषा, मुकुल और चाँदनी प्रतीक स्वरूप हैं। इनके क्रमशः भाव हैं—पवित्रता, स्फूर्ति, निर्मलता, अबोधता, स्वच्छता, शीतलता तथा मृदुलता। बच्चों के साँसवाला प्रतीक अभी प्रौढ़ नहीं हुआ है। उससे भोलेपन का भाव लिया गया है।

इनमें गुण या धर्म का उल्लेख न करके वस्तुओं का ही उल्लेख कर दिया गया है जो तत्तुल्य गुण वा धर्म के कारण लाक्षणिक प्रतीक के काम करते हैं। इसमें केवल 'उषा' शुद्ध प्रतीक है, शेष लाक्षणिक।

सारांश यह कि कवि की कामिनी का हृदय उल्लास से भरा है। वह बड़ी अबोध है। उसका श्वास अह्लादक है और वह बड़ी भोली भाली है।

आधुनिक काव्य-संसार प्रतीकों से पल्लवित तथा पुष्पित हो रहा है।

छठा रंग—लाक्षणिक उपमान

लक्षणा एक विचित्र शब्द-शक्ति है। व्यञ्जना भी इसकी शक्ति का सामना करने में संकुचित हो जाती है। लक्षणा का गहन विचार प्राच्य आलंकारिकों ने अपनी कविता के लिये जैसा किया है वैसा पाश्चात्य आलंकारिकों ने नहीं किया है। अधिकतर पाश्चात्य अलंकार लक्षणा पर निर्भर करते हैं। हिन्दी में इनके विवेचन, नामकरण और उदाहरणों की आवश्यकता है।

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर
करुणा की नव अँगड़ाई सी, मलयानिल की परिछाँई सी,
इस सूखे तट पर छहर छहर। प्रसाद

उपमा अलंकार की अप्रस्तुतयोजना में भी इसका उपयोग हुआ है और अब भी हो रहा है। पर छायावाद युग में ही इसकी बहुलता थी।

भावार्थ यह है कि मेरे शुष्क जीवन में सरस कोमल भावों का जागरण हो। 'लहर' और 'सूखे तट' का उक्त अर्थ लाक्षणिक है। दूसरी पंक्ति में लोल लहर के दो उपमान हैं। उनके भी अर्थ लाक्षणिक ही हैं। इससे भावों में करुणा का उन्मेष होता है और उसमें सौमनस्य तथा आह्लादन की भी शक्ति आती है। इनमें उपमेयोपमान भाव है।

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ मैं शालीनता सिखाती हूँ।
मतवाली सुन्दरता पग में नूपुर सी लिपट मनाती हूँ। प्रसाद

'मतवाली सुन्दरता पग में का अर्थ होता है 'मस्ती में झूमनेवाली सुन्दरियों की गति-विधि'। लज्जा कहती है कि नूपुर जैसे नृत्य-काल में ताल-गति के अनुकूल पाद-विक्षेप को संयम प्रदान करती है, मस्ती में घूमने वाले चरणों पर नियन्त्रण रखती है वैसे ही सुन्दररियों का यौवन मेरे अनुनय-विनय से, मेरे बंधन के कारण बहकने नहीं पाता। नूपुर के लिपट मनाने का यही भाव है जो लक्षणा के सहारे ही होता है। लज्जा नूपुरसी पैरों में लिपटती नहीं, नूपुर के संयम का भाव रखती है।

मूक प्रणय से मधुर व्यथा से स्वप्न लोक के से आह्वान।
वे आये चुपचाप सुनाने तब मधुमय मुरली की तान। महादेवी

रहस्य-प्रेमिका कवियित्री के वे परोक्ष परमात्म-रूप प्रेमपात्र स्वप्नलोक के आह्वान के समान आये। भावार्थ यह कि वह प्रेमपात्र वैसा ही अनुभवगम्य है, जैसा कि स्वप्नका आह्वान—पुकार। स्वप्न का आह्वान स्वप्न-द्रष्टा को ही प्रतीत होता है, उनका आना भी कुछ वैसा ही है। यह भी भाव झलकता है कि जैसे इन्द्रियों की वाह्य क्रियायें लुप्त वा सुप्त हो जातीं और अन्तर्लीन होकर एकतान हो जाती हैं, स्वप्न का आह्वान श्रवणगोचर होता है वैसे ही प्रियपात्र के प्रति शरीरवृत्तियाँ जबतक ध्यान में विलीन नहीं हो जातीं तब तक परमात्मा के परमतत्व का ज्ञान नहीं हो पाता। उपमान की लक्षणा ही ने अपने उदर में ऐसे अनेक अर्थों को डाल रक्खा है।

बाल रजनी-सी अलक थी डोलती भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में।
अचल रेखांकित कभी थी कर रही प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।
—पंत

नायिका की डोलती अलक बाल रजनी-सी थी। यहाँ बालरजनी का मर्म है, नवागत रात-सी काली। रात का जब आगमन होता है तब क्रमशः

कालिमा के बढ़ने में गति लक्षित होती है। यही गति दोनों के डोलने का सादृश्य उपस्थित करता है। लक्षणा से ही बालरजनी का अर्थ चंचल कालिमा होता है। इस दशा में इस उपमान की अनुपमता सिद्ध होती है।

जलती हूँ जैसे हृदय बीच सौरभ समेटकर कमल जले
जलती हूँ जैसे छिपा स्नेह अन्तर में कोई दीप जले। दिनकर

इसमें 'जलती हूँ' क्रिया का कर्ता सातों सुरों से भरी बाँसुरी है। पर वे सुर पीड़ा के हैं। हृदय में सौरभ समेटे भी कमल जलता है। क्यों? कौन उत्तर दे। छिन्न-विदीर्ण हो जाने का भय? नहीं कह सकता। सुन्दरियों के पद, कर, मुख, नयन से पराजित होने की शंका? वह वही जाने। पर कमल जैसी बाँसुरी जलती है। यहाँ जलन का अर्थ मार्मिक पीड़ा ही है। कवि ही आगे लिखता है—

तुम नहीं जानते पथिक आग यह कितनी मादक पीड़ा है।
भीतर पसीजता मोम लपट की बाहर होती क्रीड़ा है।

कवि का दृष्टान्त सहृदयों को जलन के रूप को स्पष्ट कर देगा।

राजमहल वे जिनकी गहरी नीवों पर बलिदान हो गये
भूखे, नरकंकाल अस्थिपंजर वे लाखों मजूर। नेमिचंद्र

मजूरों के लिये अस्थिपंजर का उपमान लक्षणा से मजूरों की अत्यन्त दुर्बलता को ही व्यक्त करता है। अस्थिपंजर ऐसे स्थानों में यह आशंका न होनी चाहिये कि यहाँ अत्यन्त दुर्बल लुप्त है, इससे लुप्तोपमा है। क्योंकि अत्यन्त दुर्बल अर्थ तो अस्थिपंजर का ही होता है।

मुरली के से सुरीले हैं इसके छिद्र सुरीले। पंत

जीवन के छिद्र मुरली के समान तो सुरीले नहीं होते। बल्कि मुरली के सुर जैसे सुरीले होते हैं। यहाँ लुप्तोपमा मानी जा सकती है। किन्तु यह अर्थ भी लक्षणा के तिरस्कार से नहीं हो सकता। क्योंकि 'मुरली के से' का 'मुरली के सुर के से' जो अर्थ होता है वह उपादान लक्षणा से ही होता है। मुरली अपने स्वर का उपादान कर लेती है।

अभिव्यञ्जनापद्धति का प्राण लक्षणा ही है। लक्षणा से व्यञ्जना बड़ी मार्मिक और हृदयस्पर्शिनी होती है। जहाँ वैचित्र्यप्रदर्शन के लिये ही लाक्षणिक प्रयोग होते हैं वहाँ भावव्यञ्जना मार्मिक नहीं होती। प्रयोक्ताओं का इसपर ध्यान जाना आवश्यक है।

सातवाँ रंग—विशेषण-विपर्ययात्मक उपमान

विशेषण-विपर्यय में विशेषण विशेष्य के साथ ऐसे लगा दिया जाता है, जहाँ उसका उचित स्थान नहीं है। कहीं इसका भिन्न रूप भी होता है। अर्थ लक्षणा के सहारे कर लिया जाता है। ऐसा करने से अर्थ-गाम्भीर्य के साथ काव्य का सौन्दर्य बढ़ जाता है। यह भी एक प्रकार की अप्रस्तुत-योजना ही है। क्योंकि इसकी जो योजना है उसमें अप्रस्तुत काम करता है; उपमान का भाव रखता है।

आह यह मेरा गीला गान,
कल्पना में है कसकती वेदना अश्रु में जीता सिसकता गान है। पंत

इसमें गान' के विशेषण 'गीला' और 'सिसकता' हैं। पर गान न तो गीला होता है और न सिसकता हुआ। किन्तु ये विशेषण आँसू बहाते और सिसकते हुए मनुष्य के हैं और उसीका दृश्य उपस्थित करते हैं। मनुष्य जैसा गान सजीव है।

दृग में गीला सुख विहँस उठा, शबनम मेरी रंगीन हुई। दिनकर

इसमें सुख का गीला विशेषण यही बतलाता है कि आँखों में सुख के आँसू हैं या आँसुओं में सुख झलक रहा है। इस गीले में उपमान का भाव नहीं है।

वेदी की निर्मम प्रसन्नता पशु की कातर वाणी
मिलकर वातावरण बना था जैसे कुत्सित प्राणी। प्रसाद

प्रथम चरण में 'प्रसन्नता' शब्द से वेदी का मानवीकरण हुआ है। वेदी प्रसन्न नहीं होती। अर्थ होता है कि वेदी के निकट बैठे हुए मनु और असुर पुरोहित निर्मम बलि-कर्म करके प्रसन्न थे। यहाँ निर्मम प्रसन्नता का विशेषण-सा प्रतीत होता है पर यथार्थतः निर्मम विशेषण निर्मम बलिकर्ता का ही चित्र सामने उपस्थित करता है और यह विदित होता है कि कातर-वाणीवाले बलि पशु की निर्दयतापूर्वक हत्या की गयी है। निर्मम कृत्य के समान मनु निर्मम थे।

तैरती सपनों में दिन रात मोहिनी छवि सी तुम अम्लान
कि जिसके पीछे-पीछे नारि रहे फिर मेरे भिक्षुक गान। दिनकर

यहाँ गान भिक्षुक नहीं, कवि ही भिक्षुक है। सौन्दर्य-पिपासा कवि के गाने की लालसा उसे भिक्षुक बनाये हुई है। यहाँ विशेषण-विपर्यय से कविता की मार्मिकता बढ़ गयी है। कवि और भिक्षुक में समता है।

धीर समीर पुलक से पुलकित विकल हो चला श्रान्त शरीर।
आशा की उलझी अलकों से उठी लहर मधुगन्ध अधीर। प्रसाद

जिस प्रकार उलझे बालों के सुलझाने के समय उनसे मधुर गन्ध की लहरें फूट पड़ती हैं उसी प्रकार अनिश्चित आशा से भी मनु के मन को अधीर कर देनेवाली सुख की लहर उठी।

इसमें 'अधीर' लहर का विशेषण है। लहर अधीर नहीं होती, पर वह अधीर कर देती है। इस विशेषण-विपर्यय से भाषा की अर्थ-व्यञ्जकता बहुत बढ़ गयी है।

आठवाँ रंग—विरोधात्मक विशेषणमूल उपमान

नवीन कवियों के काव्यों में ऐसे विरोधपूर्ण शब्द भी आते हैं, जो उपमान के काम देते हैं। ये बड़े ही व्यञ्जनापूर्ण होते हैं। इसमें अप्रस्तुत-योजना की बड़ी बारीकियाँ दीख पड़ती हैं। यह विरोध विरोध रूप में दीखता तो है पर अन्तरंग में पैठते ही इसका विरोध विरोध न रहकर मार्मिक भाव का व्यञ्जक हो जाता है। यह भी एक प्रकार की अप्रस्तुतयोजना ही है।

अरी व्याधि की सूत्रधारिणी अरी आधि, मधुमय अभिशाप
हृदय गगन में धूमकेतु सी पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप। प्रसाद

इस पद्य में दो विरोधात्मक विशेषण हैं—मधुमय (अभिशाप) और सुन्दर (पाप)। चिन्ता से मन व्याकुल रहता है, इससे इसका अभिशाप कहा जाना उचित ही है, पर चिन्तित मनुष्य उससे छुटकारा पाने का इच्छुक भी नहीं दिखायी पड़ता। यदि मनुष्य निश्चिन्त हो जाय तो लोक-जीवन में सुख-साधन का कोई प्रयत्न ही नहीं करे। चिन्ता ही है जो मनुष्य के जीव में मधुरता लाती है। इसीसे मधुमय है। चिन्ता आत्मानन्द की विधायिक है। अतः पाप-रूप होने पर भी अपने स्वरूपों में सुन्दर प्रतीत होती है यह ऐसी न होती तो उसकी ओर मनुष्य का आकर्षण कैसे होता! दूसर बात यह कि अनिष्टकारी होने पर भी कोई उससे मुक्त नहीं। वह अनिवार् है, इसीसे सुन्दर है। इस विरोध-प्रदर्शन का भाव यही है। अनिच्छित वस्त को भी लाभदायक समझ मनुष्य जैसे ग्रहण कर लेता है, वैसे ही दुःखदायिनं चिन्ता को भी वह मधुमय और सुन्दर समझकर ग्रहण कर लेता है।

गिरा हो जाती सनयन नयन करते नीरव भाषण,
श्रवण तक आ जाता है मन स्वयं मन करता बात श्रवण। पंत

'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' के यह विपरीत है। भाषण भी हो और वह नीरव रहे। पर इसमें कोई आश्चर्य नहीं। आँखें देखकर मन के भाव भाँप लिये जाते हैं। नीरव व्यक्ति जैसे अपनी मुखमुद्रा से मुख पर के चढ़ाव-उतार से, खेलते हुए रंगों से, विकास और मलिनता से, अपने मन के भाव प्रकट कर देते हैं, वैसे ही प्रेमी के नयन अपने मन के भावों को उतना व्यक्त कर देते हैं, जितना कि वे भाषण देकर भी व्यक्त न कर सकते थे। यहाँ की नीरवता सरसता से भी बढ़-चढ़कर है। महादेवीजी भी यही कहती हैं—

आँखों की नीरव भिक्षा में आँसू के मिटते दागों में,
ओठों की हँसती पीड़ा में आहों के बिखरे त्यागों में,
कन-कन में बिखरा है निर्मम मेरे मानस का सूनापन।

आँखों की भिक्षा नीरव है, पर वह सशब्द-सी निकली पड़ती है और उसमें सूनापन समाया हुआ है। मूक भिक्षा के समान ही नीरव भिक्षा है।

मणि दीपों के अन्धकारमय अरे निराशा पूर्ण भविष्य,
देव दंभ के महामेध में सब कुछ ही बन गया हविष्य। प्रसाद

भविष्य मणिदीपों के प्रकाश में भी अन्धकारमय है। दीपों के रहते अन्धकार! बड़ी विचित्र बात है! पर नहीं। जैसे मणियों का प्रकाश घनान्धकार में अपना प्रभाव विस्तार नहीं कर सकता, वैसे मणिदीप-सा मैं एकाकी भविष्य को आशापूर्ण नहीं बना सकता। यह भी इसका अभिप्राय हो सकता है कि वैभव-विलास में पला मनुष्य अज्ञानी हो जाता है और अपना मार्ग निश्चित नहीं कर पाता।

शीतल ज्वाला जलती है इंधन होता दृग जल का,
यह व्यर्थ साँस चल-चलकर करती है काम अनिल का। प्रसाद

हृदय में विरह की आग जल रही है। फिर भी वह प्रिया की स्मृति से शीतलता प्रदान करती है। जितना ही आँखों से आँसू बहता है उतनी ही विरह-वेदना की ज्वाला बढ़ती है। उस आग को यह बढ़ाता ही है। ज्वाला का ठंढा होना और उसमें आँसू का इंधन होना कितना मार्मिक विरोध है। दुखदायी वस्तु जैसे कल्याणी होती है वैसे ही यह ज्वाला भी सुखदायिनी है। यही इसका उपमानोपमेय भाव है।

ऐसे स्थानों में उपमा की ध्वनि कही जा सकती है पर विरोध में ही इसकी विशेषता है।

नवाँ रंग—भाववर्द्धक उपमान

काव्य में भाव ही प्रधान है। कल्पना की कूची से जब उसमें नाना रंगों का मिश्रण होता है तब एक संपूर्ण चित्र प्रस्तुत होता है; अरूप रूप को प्राप्त होता है। भाव-चित्र को प्रस्तुत करने में रंग ही उपमान हैं। रंगों के निखर आने से चित्र जैसा मनोरंजक हो जाता है, वैसा ही भावोद्बोधक उपमान से भाव में निखार पैदा हो जाती है।

अभी पल्लवित हुआ था स्नेह लाज का भी न गया था राग।
पड़ा पाला-सा संदेह कर दिया वह नव राग विराग। पंत

स्नेह अभी अंकुरित होकर पल्लवित ही हुआ था, जन्म लेकर कुछ ही बढ़ा था कि उस पर संदेह का पाला पड़ गया। जैसे पल्लवित हुए पौधे पर, जिसमें नाम मात्र के ही पत्ते उगते आ रहे हों, पाला पड़ जाता है, तो उसके पत्ते ही नहीं गल जाते बल्कि वह पौधा भी कमजोर हो जाता है वैसे ही नव पल्लवित स्नेह को सन्देह ने नष्ट कर डाला, नव राग को विराग में परिणत कर दिया, उसे मटियामेट कर दिया। अमूर्त का यह मूर्त उपमान सन्देह को ऐसा प्रत्यक्ष कर देता है कि वह घातक रूप में हमारे सामने आ खड़ा होता है। अन्य विषयों में उत्पन्न सन्देह उतना मर्मन्तुद नहीं होता, जितना कि प्रेम के विषय में। संदेह पाला-सा ही प्रेम को गला-पचा देता है। प्रारंभ ही में पाला जैसा प्रभाव डालता है, वैसा ही यह भी अपना प्रभाव दिखलाता है। संदेह प्रेम को पनपने का मौका ही नहीं देता। इस उपमान में भावोद्बोधन की बड़ी क्षमता है।

अंबर असीम अंतर में चंचल चपला से आकर
अब इन्द्रधनुष-सी आभा तुम छोड़ गये हो जाकर। प्रसाद

आकाश में ही बिजली चमकती है और इन्द्रधनुष भी दिखाई पड़ता है। हृदयाकाश में तुम्हारा आ जाना वैसा ही अस्थायी—क्षणिक था, जैसा चंचला चपला का स्फुरण। अब ऐसी आभा छोड़ गये हो जैसे इन्द्रधनुष। अर्थात् हृदय में अब केवल स्मृतियों की रंगीनियाँ ही रह गयी हैं। ये दोनों उपमान हृदय के सूक्ष्म भावों को खोल कर रख देते हैं।

'दिशि का चञ्चल परिमल अञ्चल
छिन्न हार से बिखर पड़े सखि। जुगनू के लघु हीरक के कण।

—महादेवी

जुगनू की जोत ही क्या। किन्तु छिन्न हार के लघु हीरक के कण का उपमान उनकी ज्योति की सुषमा को बढ़ाकर स्थायित्व प्रदान कर देता है। छिन्न हार से हीरक कण जैसे बिखर पड़ते हैं, वैसे जुगनू भी दिशा के अंचल में जगमगाने लगे। अनमोल भाववर्द्धक उपमान है।

अंजली का फूल क्या अंगार लेकर मैं खड़ा हूँ।
मैं पहाड़ों-सा अभय अब तक उठाये सिर खड़ा हूँ। रां० राघव

पहाड़ अडिग होता है, कभी नत नहीं होता। यदि एक पहाड़ ही होता तो भी सिर उठाये हुए खड़ा होनेवाले की स्थिरता, विशालता, गंभीरता, दुर्भेद्यता, उन्नतता आदि गुणों का द्योतक होता। यहाँ तो अनेक पहाड़ हैं। वे सब इसकी भी व्यंजना करते हैं कि अनेक पहाड़ों के उक्त गुण उस व्यक्ति में वर्तमान हैं। कोई-कोई पहाड़ अवसर-विशेष पर अचल होकर भी सचल हो जाय पर वह एक भाव से ही सदा स्थिर-अचंचल रहेगा।

दसवाँ रंग—भावापकर्षक उपमान

उपमान जैसे भाववर्द्धक होते हैं वैसे भावापकर्षक भी। यदि अप्रस्तुत-योजना के समय इस बात का ध्यान बना रहे कि उपमान उपमेय के अनुरूप हो और उससे उपमेय की हीनता न हो तो वह योजना सफल कही जा सकती है। यदि ऐसा न हुआ तो उपमान अपनी निरर्थकता ही सिद्ध करेगा।

उस विराट आलोड़न में ग्रहतारा बुद्बुद से लगते
प्रखर प्रलय पावस में जगमग ज्योतिरिंगणों से जगते। प्रसाद

उस विक्षुब्ध महासमुद्र के ऊपर चमकनेवाले ग्रहतारा उसके बुद्बुद से प्रतीत होते थे और उस प्रलयकालीन वर्षाकाल में वे जुगनुओं से टिम-टिमाते थे।

बुद्बुदों से—जलकणों या जलविन्दुओं से ग्रह-ताराओं को उपमित करना उन्हें हीन बनाना है। बुद्बुद स्थिर नहीं रह पाते, उठते और विलीन हो जाते हैं। ऐसे ही जुगनुओं के समान उन्हें टिमटिमाते कहना भी उचित नहीं। जुगनुओं की ज्योति जलती-बुझती रहती है, पर ग्रह-तारे एक से चमकते रहते हैं। उनमें यह बात नहीं है। रूप-साम्य और प्रकाशसाम्य को सामने रखकर ही यह साम्य-योजना है। पर ग्रह-तारों के अनुरूप नहीं है। इस योजना में उनके गुण, गौरव और प्रभाव की उपेक्षा है। विराट् आलोड़न

या प्रलय-पावस ग्रहताराओं में कोई अन्तर नहीं डाल सकते। कहा नहीं जा सकता कि उस दशा में इनकी यही अवस्था हो जो कविता में वर्णित है। इस रूप में भी इस कविता में जो काव्यसम्पत्ति है वह दुर्लभ है। इसमें उपमान की प्रमाणगत हीनता का दोष है।

लहू की बूँदों से
जलते हैं बिजली के बल्ब सूनी सड़कों पर लाल-लाल। रामविलास

कहाँ बिजली के बल्ब और कहाँ लहू की बूँदें। जमीन आसमान का फ़र्क! केवल ललाई के लिये लहू की बूँदें उपमान रूप में लायी गयी हैं। कहा जाय तो ऐसी अप्रस्तुतयोजना व्यर्थ है। क्योंकि, उसकी ललाई से बिजली के बल्ब की ललाई की तुलना कोई नहीं कर सकता है। बिजली का बल्ब जब तक लाल नहीं होगा, तब तक उसका प्रकाश लाल नहीं होगा। ध्यान रहे कि ये बल्ब शोभाशृङ्गार के लिये सजाये नहीं गये हैं, बल्कि सड़कों पर जलते हैं। ऐसे बल्बों से उज्ज्वल प्रकाश ही विकीर्ण होता है। वहाँ ललाई लाने का कोई लाल पर्दा भी नहीं है। इस उपमान से न तो आकार का ही बोध होता है और न कोई भावावबोध में ही सहारा मिलता है। बल्ब के प्रकाश में भी लहू की बूँदें देख पाना असम्भव है। इसमें भी वही उक्त दोष है।

लोहे की ढाल पर उभर कीलों-सी तारिका प्रखर,
युग-युग के अन्धकार से मानव को फिर उबार लूँ। रां-राघव

नील नभोमण्डल की अगणित जगमग तारिकाओं का यह उपमान है। लोहे की ढाल पर उभरी कुछ ही कीलें होती हैं। ढाल में न तो आभामय नीलिमा है और न कीलों में तारिकाओं-सी चमक। चाँदी की कीलें होने से उन्हें चमकदार तो मान लें पर उनकी असंख्यता का ह्रास तो हो ही जाता है। यह साम्य उपमेय को ओछा बना देता है। यदि उसका यह अर्थ किया जाय कि प्रखर तारिकाओं के समान मानव ढाल की कीलें हैं और उन्हें ढाल रूपी अन्धकार से उद्धार कर लूँ तो यह कहाँ तक सहृदयानुमोदित होगा, कहा नहीं जा सकता। पहला ही अर्थ सजग हो पहले सामने आ जाता है। इसमें उपमान की धर्मगत न्यूनता है। क्योंकि उसमें केवल काला होने का ही एक धर्म है, विस्तार का नहीं। तारिकाओं में वर्तुलता का भी एक धर्म है, असंख्यता का धर्म नहीं।

ग्यारहवाँ रंग—प्रच्छन्न उपमान

कहीं-कहीं उपमान प्रच्छन्न-से रहते हैं। कवि को यह ध्यान नहीं रहता कि वह उपमान ला रहा है। अनायास ही उसकी ऐसी उक्ति निकल पड़ती है कि उसमें उपमान की कल्पना की जा सकती है।

हाँ सखि आवो, बाँह खोल हम लगकर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में हो जावें द्रुत अन्तर्धान। पंत

कवि कहता है कि सखी छाया, हम दोनों बाँह खोलकर गले मिल लें अर्थात् तुम्हारी शीतल छाया में बैठकर तप्त प्राण को शीतल कर लें। फिर न तुम रहोगी और न मैं। तुम अन्धकार में और मैं अपने प्रिय विषय में लीन हो जाऊँगा। यह इसका लौकिक पक्ष है।

जगत् छाया-रूप है। उसे जहाँ तक हो सके प्यार कर लें। फिर दोनों का मेल कहाँ! तुम महाशून्य में मिल जाओगी और आत्मरूप मैं परमात्मा में मिल जाऊँगा। यह इसका अध्यात्मपक्ष है।

तू जैसे महाशून्य में अन्तर्लीन हो जाओगी वैसे मैं भी परमात्मा में लीन हो जाऊँगा। यह उपमा प्रच्छन्न है, कल्पना में आ गयी है। यहाँ उपमा की ध्वनि नहीं कह सकते। क्योंकि इसमें उपमा का प्रत्यक्ष आभास है।

अब छूटता नहीं छुड़ाये रँग गया हृदय है ऐसा,
आँसू से धुला निखरता यह रंग अनोखा कैसा। प्रसाद

एक पक्का रंग ऐसा होता है जो किसी प्रकार छुड़ाये नहीं छूटता। जितना ही पानी से धोया जाता उतना ही वह खुलता है। उसी प्रकार अनोखे रंग (प्रेम) से भरा हृदय रँग गया है, जो अश्रु-जल से और भी निखर आया है। आँसू विरहावस्था का व्यञ्जक है। भावार्थ यह कि विप्रलंभ शृङ्गार में प्रेम और परिपुष्ट होता है। यहाँ रंग की उपमा कल्पना से ही सम्बन्ध रखती है, प्रच्छन्न ही है। उपमा की ध्वनि इसलिये नहीं कि 'ऐसा' से उपमा की एक झलक स्पष्ट हो जाती है; सर्वत्र व्यङ्ग-व्यञ्जक में प्रच्छन्न उपमान नहीं रहता।

है 'जयप्रकाश' वह जो न कभी सीमित रह सकता घेरे में,
अपनी मशाल जो जला बाँटता-फिरता ज्योति अँधेरे में। दिनकर

जो प्रकाश घेरे में घिरा नहीं रह सकता, उस प्रकाश के समान 'जयप्रकाश नारायण' समाजवादी नेता हैं। यहाँ उपमा अलंकार की झलक

है। 'जयप्रकाश' के प्रकाश को लेकर जो अप्रस्तुतयोजना है, वह प्रच्छन्न है। उसकी कल्पना इस रूप में की जा सकती है। निर्मुक्त प्रकाश अपनी ज्योति को जैसे सर्वत्र छिटकाता है, वैसे ही जयप्रकाश, प्रकाश-वितरणकारी हैं, अपना प्रभाव-विस्तार करनेवाले हैं।

मदिरा की वह नदी बहाती आती
थके हुए जीवों को वह सस्नेह
प्याला एक पिलाती,
सुलाती उन्हें अंक पर अपने
दिखलाती फिर विस्मृति के वह कितने मीठे सपने। निराला

इस कविता में सन्ध्या सुन्दरी का मानवीकरण है। इस मानवीकरण का केवल इतना ही उद्देश्य है कि दोनों का तत्तुल्य भाव हो। सन्ध्या शान्त जीवों को ऐसी सुख की नींद सुला देती है जैसे कोई मद-कलश-वाहिनी नायिका मद का एक-एक प्याला देकर प्रेमियों को मदमस्त कर सुला देती है। यहाँ सन्ध्या का मानवीकरण उपमान के रूप में ही विशेषतः हमारे सामने आता है।

बारहवाँ रंग—आभ्यन्तर उपमान

"जिस प्रकार भावों या मनोवृत्तियों का स्वरूप बाह्य वस्तुओं द्वारा सामने लाया जाता है उसी प्रकार कभी-कभी बाह्य वस्तुओं के साम्य के लिये आभ्यन्तर भावों वा मनोव्यापारों की ओर भी संकेत किया जाता है। जैसे—

अचल के जब वे विमल विचार अवनि से उठ उठ कर ऊपर,
विपुल व्यापकता में अविकार लीन हो जाते वे सत्वर। पंत

हिमालय प्रदेश में यह दृश्य प्रायः देखने को मिलता है कि रात में जो बादल खड्डों से भर जाते हैं वे प्रभात होते ही धीरे-धीरे बहुत से टुकड़ों में बँटकर पहाड़ के ऊपर इधर-उधर चढ़ते दिखाई देने लगते है और अन्त में अनन्त आकाश में विलीन हो जाते हैं। इसका साम्य कवि ने अचल ध्यान में मग्न योगी से दिखाया है जिसकी निर्मल मनोवृत्तियाँ उच्चता को प्राप्त होती हुई उस अनन्त सत्ता में मिल जाती हैं।" शुक्लजी

नीचे जल था ऊपर जल था, एक तरल था एक सघन।
एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन। प्रसाद

एक पुरुष—मनु को नीचे जल ही जल और ऊपर भी जल ही जल दीख पड़ता था। एक जल तरल था—द्रव रूप में था और दूसरा सघन—बर्फ के रूप में था। पर इन दोनों में एक ही तत्त्व अर्थात् जल ही था। क्योंकि शीताधिक्य के कारण जल ही कठिन हो जाता है। उस जल को जड़ (कठिन—स्थिर) कहो या चेतन (द्रवीभूत—गतिशील)।

साधारणतः पद्य का यही अर्थ है। पर जड़ और चेतन ऐसे शब्द हैं जो इस भावार्थ को भी व्यञ्जित करते हैं कि एक ही परम तत्त्व आत्म (चेतन) रूप में और जड़ (स्थूल बाह्य पदार्थ) रूप में सर्वत्र विद्यमान है। मिट्टी के भिन्न-भिन्न आकार के छोटे-बड़े पात्र नाम-रूप से भिन्न-भिन्न तो हैं पर ज्ञान-दृष्टि से देखने पर मिट्टी के अतिरिक्त कुछ नहीं, सबों में एक तत्त्व मिट्टी ही है। कवि को अभीष्ट हो या नहीं पर यह साम्य तो है ही कि जैसे जड़ चेतन में एक परम तत्त्व ही व्याप्त है, वैसे जल-हिम में जल ही एक तत्त्व विद्यमान है। यहाँ सूक्ष्म आभ्यन्तर भाव से स्थूल का साम्य प्रतिपादित किया गया है। यह कई रूपों में प्रकट होता है।

रो-रोकर सिसक-सिसककर कहता मैं करुण कहानी।
तुम सुमन नोचते सुनते करते जानी अनजानी। प्रसाद

मैं अपनी करुण कहानी कहती हूँ जिसके कहने में रुलाई आ जाती है, सिसकियाँ आने लगती हैं और तुम हाथ का फूल नोचते हो, और ऐसा ढंग दिखाते हो, जैसे जान कर अनजान बन गये हो। तुम्हारी यह तटस्थता—निरपेक्षता अखर उठती है और आँखों में आँसू आ जाते हैं। इसमें सुमन का श्लेष काम करता है।

इसमें 'सुमन नोचते' यह आभ्यन्तर साम्य उपस्थित करता है कि किसी के सुन्दर मन के नोचने से—उपेक्षापूर्वक उसकी अवहेलना से उसकी लालसाओं को मिट्टी में मिलाने से जैसी निष्ठुरता प्रकट होती है, वैसी ही मेरी वेदना को जानकर भी तुम्हारे अनजान बनने में प्रकट हो रही है। इस साम्यमूलक आभ्यन्तर उपमान से बाह्य रूप जगमगा उठता है।

जहाँ मूर्त वस्तुओं के लिये अमूर्त उपमान जुटाये जाते हैं प्रायः वहाँ भी आभ्यन्तर उपमान वर्तमान रहता है। जैसे—

गिरिवर के उर से उठ उठकर उच्चाकांक्षाओं से तरुवर,
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर, अनिमेष अटल कुछ चिन्ता पर। पंत

स्वप्नलोक में विचरनेवाले उच्चाकांक्षी व्यक्ति के हृदय से उठी ऊँची-

ऊँची आकांक्षायें भी ऐसी होती हैं जिनके लिये चुपचाप आकाश की ओर देखते हुए चिन्ता करनी पड़ती है। अटल भाव से आकाश की ओर देखना, चिन्ता की एक मुद्रा है। इस पद्य के उर, उच्च और चिन्ता ऐसे शब्द हैं जिनसे आभ्यन्तर साम्य की ओर सहज ही दृष्टि चली जाती है। पहाड़ से निकले आकाश छूनेवाले निश्चल तरुवरों के लिये यह साम्य अनुपम है। 'से' वाचक से प्रकट होने पर भी इसका भाव आभ्यन्तर है। उच्चता की भावना में ही समता है।

तेरहवाँ रंग—महनीय उपमान

आलंकारिक योजना कहीं भाव की गंभीरता प्रकट करती है और कहीं स्वरूप की स्पष्टता। कहीं-कहीं दोनों में सहायक होती है। किन्तु स्वरूप और भाव, दोनों की विभूति बढ़ानेवाली योजना कुछ कठिन होती है। क्योंकि उपमेयगत इन बातों के लिये तत्तुल्य उपमान सुलभ नहीं। यदि कवि स्वरूप पर ही दृष्टि रख उपमान लाता है तो उसका उतना महत्त्व नहीं। यदि वह हृदय की अवस्था को अपने उपमानों द्वारा व्यक्त करता है तभी उसकी सहृदयता है। जिसने अपनी सहृदयता से दोनों को स्फुटित करने की-कला प्रदर्शित की है वह कलाकार कवि सचमुच प्रशंसनीय है।

> नील निचोलन को पहिरे एक चित्त हरै।
> मेघन की दुति मानहु दामिनि देह धरै। केशव

नीली साड़ी पहने हुई एक स्त्री ऐसी मालूम होती है जैसे दामिनी की देह पर मेघों की छटा हो। इस वर्णन से हमारा ध्यान दोनों के नीले-पीले रंगों पर ही ध्यान नहीं जाता बल्कि नीले-नीले बादलों और निचोलों के बीच तड़पती हुई तड़िता और खुलते हुए अंग एक ऐसा आकर्षण पैदा करते हैं, ऐसा भावोद्रेक करते हैं कि हम एक दूसरे ही लोक में पहुँच जाते हैं। यहाँ स्वरूप और भाव दोनों की सुन्दरता के साथ अभिव्यक्ति होती है। 'मानहु' यहाँ उत्प्रेक्षावाचक है पर संभव होने से उपमा मानी जा सकती है।

इसी दृश्य को प्रसादजी भी हमारे सामने रखते हैं—

> नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला रंग।
> खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ वन बीच गुलाबी रंग। प्रसाद

इसमें भी वे ही—नीला कपड़ा, मेघ, देह, दामिनी आदि हैं पर इनकी अभिव्यक्ति की कला निराली है।

नील परिधान में अधखुला अंग ऐसा मालूम होता है जो घन के बीच गुलाबी रंग का खिला हुआ बिजली का फूल हो। ये दोनों अपने रंगों की छटा ही छिटकाकर अपने प्रभाव की इतिश्री नहीं समझते। वे ऐसी सहज सुकुमार शोभा का विस्तार भी करते हैं जिससे मनु का मन भी चंचल हो उठता है। यहाँ स्वरूप-बोध तो होता ही है, श्रद्धा की रूपज्वाला भी हृदय में एक विकार पैदा कर देती है। उसके रूप का सौन्दर्य मनु के मन के राग को उद्दीप्त कर देता है।

प्राण तुम्हारे मुख पाटल से हिमकण जैसे कोमल
ज्योत्स्ना जैसे चंचल परिमल से वे शब्द भरे थे। अज्ञेय

इसमें रूपक-गर्भित उपमा है। रूपक ने उपमा में प्राण फूँक दिये हैं; उसके चित्र को पूरा कर दिया है। इसमें उपमेय 'शब्द' अमूर्त है और इसके उपमान मूर्त हैं। पाटल से परिमल झड़ता है और मुख से शब्द। आरक्त मुख को पाटल कहना जैसा सुरंग सरसाता है वैसा ही परिमिल शब्दों का श्वास-सुरभि-संवलित सौष्ठव। पाटल पर जो हिमकण संचित होते हैं वे आर्द्र तो होते ही हैं कोमल भी होते हैं। शब्द भी श्रवण-सुखद तथा स्नेहार्द हैं। पाटल पर ज्योत्स्ना पड़ती है और उसके हिलने-डुलने से चंचल प्रतीत होती है। शब्द भी मानसिक अस्थिरता से चंचल हैं। इस प्रकार यहाँ के सभी उपमान जैसे अदृश्य शब्द के स्वरूपबोध में समर्थ हैं वैसे ही भाव की गंभीरता को भी व्यक्त करते हैं। शब्द स्वरूपवान नहीं हैं, फिर भी हम उनके स्वरूप और भाव को हृदयंगम कर लुब्ध-मुग्ध हो जाते हैं।

अश्रु बह जाते थे कामिनी के कोरों से
कमल के कोषों से प्रात की ओस ज्यों। निराला

कामिनी के नेत्रों की कमल के कोषों से तुलना केवल अश्रु और ओस के वाह्य उत्पत्ति-स्थानों का स्वरूप-साम्य ही उपस्थित नहीं करती अपितु नेत्रों के कमल से कमनीय, सुरंग तथा समुज्ज्वल होने का भी साम्य उपस्थित करती है। कमलनयनी के ओस जैसे उपेक्षित अश्रु मन में करुण भावों को गंभीर बना देते हैं।

अनूप सिद्धार्थ स्वरूप देखके प्रजा हुई हर्षित रोम रोम से।
घिरी घटा ज्यों घन की विलोक के कदम्ब के पादप पुंज फूलते। अनूप

यह कवि प्रसिद्धि है कि घटा घिरने पर कदंब फूलते हैं। कदंब-पुष्प के केशर इतने निकल आते हैं कि वह भर उठता है। हर्षित व्यक्ति के जैसे रोम-रोम खड़े हो जाते हैं वैसे ही वे पुलकित हो जाते हैं। इसमें कंटकित रोमों से कदंब केशर का वाह्य साम्य है और हर्षातिरेक के भाव को तीव्र बना देता है। आनन्दातिरेक को हर्षित होना और फूलना शब्द-भेद से एक ही धर्म उक्त है। अतः इसे वस्तु-प्रति-वस्तु-निर्दिष्ट उपमा में ले जा सकते हैं।

कवियों के ऐसे ही उपमान प्रशंसनीय होते हैं।

चौदहवाँ रंग—एकांगी उपमान

कुछ उपमान ऐसे होते हैं जिनके एक ही एक गुण को लेकर उपमेय में साम्य-स्थापन किया जाता है। इस दशा में कवि उपमा के सारे दोषों को भूल जाता है और ऐसे उपमानों को ला भिड़ाता है। इसके अनेक रूप मिलते हैं—

जब हम यह कहते हैं कि 'यह समाचार हमारे सैनिकों में बिजली की तरह फैल गयी' तो हमारा ध्यान तड़ित् की तीव्र गति की ओर ही आकृष्ट होता है। हम बिजली के अन्य गुणों—दीप्तिमत्ता, स्फूर्ति, आतंकदायकता आदि—को भूल जाते हैं। हम यह नहीं सामने लाते कि सैनिक बिजली के समान कड़क उठे, 'आदि। क्योंकि वहाँ फुर्ती से जा पहुँचने का ही एक लक्ष्य रहता है।

> क्योंकि लड़की-सी वधू उस मैल घूँघुट में छिपी-सी
> देखती है राह पति की।
> यादगारों-सी जवानी हाथ फैलाकर न पाती। रां० राघव

वधू के लिये लड़की का उपमान लाया गया है। यहाँ दोनों के धर्म एक-से नहीं हैं। इनके साम्य में वैषम्य है। लड़की और वधू की सामाजिक योग्यता एक-सी नहीं होती। छोटी होने की एक बात से ही वधू का साम्य है। पर एक बात यह खटकती है कि छोटी बहू पति की राह कैसे ताकती है। क्योंकि छोटेपन में उसे पति पदार्थ का पता नहीं रहता। हाँ, वह जवानी के लिये जरूर लालायित है। कवि ने बहू की लज्जालुता आदि धर्मों को छोड़कर केवल छोटेपन को ही समता के लिये रख लिया

है। यहाँ जवानी एकवचन के लिये यादगारों-सी बहुवचन उपमान लाया गया है।

विरल टहनियों की जाली से लगता मुक्त प्रशस्त दिगंतर
यह लो नव शिशु-सा ही सुन्दर निखिल विश्व बन गया दिगंवर।
—पन्त

कहाँ शिशु और कहाँ विश्व! कवि उपमान की न्यूनता को एकबारगी ही भूल गया है। जाति, प्रमाण और धर्म तीनों की न्यूनता है। अनेक धर्मों में केवल एक धर्म 'नग्न होना' ही लिया गया है। पत्तियाँ झड़ गयी हैं। पेड़ों की टहनियाँ ही टहनियाँ रह गयी हैं। इससे दिगंतर प्रशस्त हो गया है—जिससे संसार ही दिगंबर नग्न हो गया है। शिशु भी लँगटा रहता है। क्या उसका नग्न-सौन्दर्य विश्व के नग्न सौन्दर्य का कभी सामना कर सकता है? कवि ने सबको छोड़ विश्व की केवल दिगंबरता को ही शिशु की नग्नता से ला भिड़ाया।

सिर्फ एक उन्माद;
न था वह यौवन का अनुराग
किन्तु यौवन ही सा उच्छृंखल
न चंचल शिशुता का अवसाद
किन्तु शिशु ही सा था वह चंचल। निराला

इसमें उन्माद को उपमित करने के लिये यौवन आया है। यह एक अवस्था है। अमूर्त धर्म है। इसके अनेक गुण-धर्म हैं। किन्तु केवल अनुराग आदि को छोड़कर उच्छृंखलता का एक धर्म लिया गया है। शिशु मूर्त रूप है। उसके अनेक गुणों में चंचलता ही प्रधान है। इसीसे उन्माद को शिशु-सा चंचल कहा गया है। उपमान के अन्य गुणों से कवि का कोई मतलब नहीं है। उसने अपने मतलब के ही कुछ गुण छाँट लिये हैं।

क्यों जब मैं ज्वाला में बत्ती-सी बढ़ती हूँ आगे
अग्निशिखा से तुम ऊपर ही ऊपर जाते भागे। अज्ञेय

कवि कहना चाहता है कि मैं (नायिका) तुमसे (नायक) संकट में भी मिलना चाहती हूँ पर तुम शिखा के समान दूर ही दूर आगे भागे जाते हो; मेरे मिलने के प्रयत्न को ठुकरा देते हो।

इसमें उपमानों की केवल बढ़ना और भागना क्रिया को ही कवि ने समता के लिये सामने रक्खा है, अन्य धर्मों को नहीं। बत्ती बढ़ती है तो

स्नेह को भी साथ-साथ लेती फिरती है। अपने भी जलती है और साथ ही स्नेह को भी स्वाहा करती है। इस धर्म को कवि ने नहीं अपनाया। इधर ज्वाला की भाँति भागे जाने में उपेक्षा का ही भाव नहीं है—जलाने का भी—दुखलाने का भी। अपनाते भी नहीं, जलाते हो। इस भाव को भी ठुकरा दिया गया है। यदि कवि के मुख से नायिका केवल बत्ती और नायक शिखा के ही रूप में होते तो ये सभी भाव इनमें भर जाते। किन्तु जड़ना और भागना को ही लेकर कवि भाग गया।

हिमगिरि से गल बहे तपे तुम दिनकर से जलजल के। सुमन

यहाँ तुम के लिये हिमगिरि का उपमान तो लाया गया पर उसके एकांगी गलने के धर्म को ही अपनाया गया, अन्य धर्मों को नहीं। उसकी अन्य विशेषताओं की ओर दृष्टिपात नहीं किया गया। क्योंकि, आवश्यकता नहीं थी। ऐसे ही दिनकर के जलने के ही धर्म को कवि ने लक्ष्य में रक्खा। कारण यह कि उपमेय के इन्हीं दोनों गुणों—जलने और गलने—अपने को नष्ट करने और दुःख भोगने की विशेषताओं—को ही कवि को तीव्र करना अभीष्ट था। इसीसे उपमान के इन्हीं गुणों को सामने लाकर भाव को तीव्र बनाया। ऐसे स्थानों पर एकांगिता को अपनाना ही चमत्कारक होता है।

कवि को इस विषय में स्वतन्त्रता है कि वह उपमान के अनेक गुणों में से एक को या सब को अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिये अपनावे।

पन्द्रहवाँ रंग—जटिल उपमान

उपमान का स्वाभाविक गुण है बोधगम्यता। उपमा हो वा उत्प्रेक्षा या अन्य कोई आलंकारिक योजना हो, उसमें बोधगम्यता होनी चाहिये। ऐसा न होने से वह हमारे हृदय के रागों को उद्दीपित नहीं कर सकता। अलंकार चमत्कारक हों, इसमें कोई आपत्ति नहीं, पर वे काव्योपयुक्त ही हों। पाठक यदि अलंकारों में ही उलझ गया तो काव्यानन्द का उपभोग ही कैसे कर सकता है! जो उपमान ऐसे हैं उनकी उपयोगिता सिद्ध नहीं होती। रसबोधक होने के कारण उनसे दूर ही रहना चाहिये।

"साँझ का उजला अँधेरा अपने प्रकाश-पराजित, नभ की चादर, जब धीरे-धीरे रूप की रानी के विस्तार पर उड़ाने लगा, तब रूप और आकाश

के व्यापार एकाकार में विलीन होकर, इस तरह छुपने लगे, मानों दिन की दौड़ को, रात्रि ने अन्तर्धान का आमन्त्रण भेजा हो। सूरज की सहस्र-सहस्र किरणों की पराजय पर, तारे यों हँस उठे जैसे कानेंगो को किसी दिन रेल का टिकट न मिलने पर साउथम्पटन स्टेशन का पोर्टर हर्षित हो रहा हो"।

साहित्य देवता

इसका पहला वाक्य बड़ा जटिल है, मिश्र वाक्य जैसी स्पष्टता नहीं। समतावाचक 'इस तरह' की पूर्ति 'जिस तरह' 'जैसे' आदि शब्दों से नहीं की गयी है। पूर्ति के लिये उत्प्रेक्षा अलंकार का 'मानो' वाचक लाया गया है। बिना 'इस तरह' वाचक के भी उत्प्रेक्षा में कोई बाधा नहीं। इस प्रकार यहाँ यह वाचक बेकार ही है। छिपने की क्रिया के लिये उपमान रूप में उत्प्रेक्षा को ला सकते हैं पर उस प्रकार से इसमें कोई विशेषता आती नहीं। इस प्रकार मानवीकरण की मनोरमता भी नहीं रहने पाती। उत्प्रेक्षा उसमें न्यूनता ला देती है। किरणों की पराजय पर तारों के हँसने की जो अप्रस्तुतयोजना है वह सार्थक है। प्रायः काव्य में लोकसिद्ध ही उपमान लाये जाते हैं जिससे भावबोध में सहायता मिले और रसावाप्ति में बाधा न पहुँचे। जो टिकट मिलने की घटना को नहीं जानता, कवि के अतिरिक्त बहुत ही कम लोग जानते भी होंगे, उसे यह उपमान तो एक बुझौवल ही प्रतीत होगा। इस खड़खड़ाहटवाली अलंकारयोजना के बिना भी संध्याकाल में अंधकार फैलने पर ताराओं के चमकने की बात सहज-सुबोध है। क्योंकि हँस उठने की बात ही इसका बोध करा देती है। हँस उठने की क्रिया को पोर्टर का हँसना कुछ भी तीव्र नहीं बनाता। ऐसे उपमान काव्योचित नहीं कहे जा सकते। ये तो शर्कराकणों में बालू के कण के समान ही प्रतीत होंगे।

छोटे-छोटे, बिखरे से, शुभ्र बादलों को पार करता—
मानों कोई तपक्षीण कापालिक
साध्य-साधना की जल बुझी, झरी,
बची-खुची राख पर धीमे पैर रखता—
नीरव, चपलतर गति से
चाँद भागा जा रहा है
द्रुतपद— अज्ञेय

...बादलों को पार करता द्रुतपद चाँद भागा जा रहा है मानो कोई... कापालिक...राख पर धीमे पैर रखता...(भागा जा रहा हो)। अन्वय इसका यही होगा। निष्फल कापालिक का सब कुछ छोड़-छाड़कर भागना लोक-

सिद्ध है। इससे उत्प्रेक्षावाचक 'मानो' के स्थान पर उपमा-वाचक 'जैसे' होना ही उचित प्रतीत होता है। उज्ज्वल बादल मूर्त है। इसके उपमान में अमूर्त 'साध्य-साधना की बची-खुची राख' लायी गयी है। यह ठीक नहीं। मूर्त के अमूर्त उपमान लाये जाते हैं पर वहीं जहाँ गुण-धर्म का साम्य होता है। वस्तु-स्थिति में ऐसे उपमान वस्तुज्ञान कराने में अक्षम हैं। न यहाँ राख मूर्त है और न पैर रखना ही। हम लक्षणा का सहारा लेकर यह अर्थ कर सकते हैं कि कापालिक अपना तप खोकर जैसे शोक करता हुआ आगे बढ़ता है वैसा ही चन्द्रमा भी मन्द प्रकाश होकर बादलों में भागता नजर आता है। पर यह अर्थ खींच-खाँचकर ही लाया जाता है, योजना के साम्य से नहीं। शुभ्र बादलों के बीच से चन्द्रमा के जाने में योजना कुछ भी सहायता नहीं करती। बल्कि इस दृश्य को सामने लाने में बाधक बन जाती है। शरीरी कापालिक के राख पर पैर रखने की बात शशशृङ्ग हो जाती है। एक बात और ध्यान देने योग्य है। इधर कापालिक तो धीरे-धीरे पैर रखता है और उधर द्रुतपद चपलतर गति से चुपचाप चाँद भागा जा रहा है। बादलों की गति से चाँद भागता-सा प्रतीत होता है। यह बात कापालिक में नहीं है। कविता सुन्दर है पर बीच की तीन पंक्तियाँ घसीटकर लायी गयी हैं और जटिलता ही पैदा करती हैं।

आजकल के कलाकार ऐसे उपमान ला-लाकर काव्यानन्द में किरकिरी पैदा कर रहे हैं। उन्हें सहृदयता के साथ कला-पारखी भी होना चाहिये।

सोलहवाँ रंग—मूर्त से मूर्त का उपमान

उपमान-प्रयोग के चार प्रकार दिखाई देते हैं जिनमें पहला है वस्तु के साथ वस्तु का उपमान या मूर्त के साथ मूर्त का उपमान।

पर मन भी क्यों इतना ढीला अपने ही होता जाता है।
घनश्याम खण्ड सी आँखों में क्यों सहसा जल भर आता है। प्रसाद

इसमें दोनों ही मूर्त पदार्थ हैं। खण्ड घनश्याम भी काला और नेत्र भी काले हैं। इन दोनों में जल का आना भी सहसा ही हो जाता है। रूप-साम्य की प्रधानता है।

शिखर पर विचर मरुत रखवाल वेणु में भरता था जब स्वर
मेमनों से मेघों के बाल कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर। पंत

भावार्थ यह है कि मन्द मरुत के मन्द प्रवाह से छोटे-छोटे उज्ज्वल मेघ पहाड़ पर इधर-उधर बिखर जाते थे। इस भावार्थ को कवि ने रूपक के भीतर से ऐसा कोमल बना दिया है कि इसकी व्यञ्जना को बार-बार सराहकर भी सन्तोष नहीं होता। यहाँ मेमने और मेघ दोनों मूर्त ही हैं।

सुना यह मनु ने मधु गुंजार, मधुकरी का सा जब सानन्द
किये मुख नीचा कमल समान प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छन्द
—प्रसाद

मनु ने ग्रीवा को झुकाये हुई श्रद्धा के कमल के समान सुन्दर मुख की, भ्रमरी की गुंजार जैसी मिठास भरी यह वाणी प्रसन्न मन से सुनी। वह मधुर गुंजार प्रथम कवि वाल्मीकि के छंद जैसा सुन्दर था।

इसमें गुंजार, कमल और छन्द, सभी मूर्त हैं। जब मुख कमल हुआ तब वाणी को मधुकरी का गुंजार कहना सार्थक ही है। छन्द भी श्लोक रूप में ही था। गुंजार का श्रवण प्रत्यक्ष होता है।

शरों की नोक पर लेटे हुए गजराज जैसे,
थके, टूटे गरुड़ से स्रस्त पन्नगराज जैसे,
मरण पर वीर जीवन का अगम बल भार डाले,
दबाये काल को, सायास संज्ञा को सँभाले;
पितामह कह रहे कौन्तेय से रण की कथा हैं। दिनकर

इसमें मूर्त पितामह के गजराज, गरुड़ और पन्नगराज उपमान हैं पर ये सभी आकार से नहीं, गुण के ही कारण आये हैं।

सूने गगन में आँख फाड़े
कल्पनाप्रिय युवक कवि-सी सहज निष्प्रभ
खड़ी है विभवहीन पहाड़ियाँ। नेमिचन्द

यद्यपि इसमें लिङ्ग-वचन की उपमेयोपमान में विषमता है फिर भी मूर्त उपमेय और उपमान एक सच्चे चित्र को खींच देते हैं।

सत्रहवाँ रंग—अमूर्त से अमूर्त का उपमान

अमूर्त उपमेय और अमूर्त उपमान कवि-प्रतिभा के परिचायक होते हैं। यह सर्व-साध्य और सब सुगम नहीं।

मृत्यु सदृश शीतल-निराश हो आलिंगन पाती थी दृष्टि,
परम व्योम से भौतिक कण सी घने कुहासों की थी वृष्टि। प्रसाद

दृष्टि को मृत्यु-सदृश शीतल तथा निस्पन्द निराशा ही निराशा चारों ओर दीख पड़ती थी। इसमें मृत्यु और निराशा दोनों ही अमूर्त हैं।

निकल रही थी मर्म वेदना करुणा विकल कहानी-सी
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही हँसती-सी पहचानी-सी। प्रसाद

मनु अपनी गहरी मर्मव्यथा की कथा कह रहे थे जो करुणाभरी कहानी थी। प्रकृति की उपेक्षा से शोक और गहरा हो गया है। यहाँ उपमेय और उपमान दोनों अमूर्त हैं।

आवे वन मधुर मिलन क्षण पीड़ा की मधुर कसक-सा
हँस उठे विरह ओठों में प्राणों में एक पुलक-सा। महादेवी

पीड़ा की कसक दुखदायिनी होती है। फिर भी वह इसलिये मधुर प्रतीत होती है कि सुख का कारण होती है। सान की रगड़ ही रत्न में चमक पैदा करती है। संस्कृत की कहावत है—नहि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते। ऐसा ही पंत कहते हैं—

बिना दुख के सब सुख निस्सार बिना आँसू के जीवन भार।

ऐसा होने से ही विरह हँस उठता है और प्राणों में एक पुलक संचार हो जाता है।

यहाँ मिलन-क्षण तथा विरह दोनों उपमेय अमूर्त और मधुर कसक तथा एक पुलक उपमान भी अमूर्त ही हैं।

गर्व-सा गिर उच्च निर्झर स्रोत से स्वप्न सुख मेरा शिलामय हृदय में
घोष भीषण कर रहा है वज्र-सा वात-सा भूकम्प-सा उत्पात-सा। पंत

दूर से जब कोई वस्तु कठिन वस्तु पर जोर से गिरती है तब उसका घोष भीषण होता ही है। स्वप्न सुख जब प्रस्तर हृदय पर गर्व-सा आ पड़ा तो क्यों नहीं भीषण निर्घोष करेगा। तभी तो वह वात-सा, भूकम्प-सा और उत्पात-सा है।

इसमें स्वप्न-सुख उपमेय अमूर्त है और उसके उपमान भी गर्व-सा, वात-सा आदि अमूर्त हैं और एक साथ ही अनेक हैं।

———

अठारहवाँ रंग—मूर्त के अमूर्त उपमान

मूर्त का अमूर्त उपमान उतना कठिन नहीं है। क्योंकि मूर्त वस्तु के रूप-रंग और गुणावगुण एक प्रकार से प्रत्यक्ष और अनुभूत रहते हैं जिससे अप्रस्तुतयोजना सहज हो जाती है।

छूते थे मनु और कंटकित होती थी वह बेली—
स्वस्थ व्यथा की लहरों-सी जो अंग-लता थी फैली। प्रसाद

उसकी देह, लता के समान फैली थी जैसे स्वस्थ व्यथा की लहरें हों। कहने का भाव यह कि उसकी देह-लता में गहरी व्यथायें उठ रही थीं। श्रद्धा के लिये व्यथा की लहर का उपमान अमूर्त है। ऐसे भावात्मक उपमान बाहर के नहीं प्रायः हृदय के अमूर्त भावों का रूप धारण करके बाहर हो। पड़ते हैं।

चंद्र की विश्रामराका बालिका सी कान्त।
विजयिनी सी दीखती तुम माधुरी-सी शान्त। प्रसाद

हे नारी! तुम विश्रामदायिनी चन्द्र की कान्त चन्द्रिका—बालिका हो या बालिका-सी सुन्दर हो। विजयिनी होती हुई भी माधुरी-सी, मधुरता-सी शान्त हो। नारी प्रस्तुत के लिये माधुरी अमूर्त उपमान है।

शून्य नभ पर जब उमड़ मधुभार सी नैश तम में सघन छा जाती घटा।
बिखर जाती जुगुनुओं की पाँत भी जब सुनहले आँसुओं के हार सी।
तब चमक जो लोचनों को मूँदता तड़ित की मुस्कान में वह कौन है।
—महादेवी

घटा छा जाने को मधुभार-सा कहा गया है। 'घटा का घिरना' मूर्त है। पर मधुभार अमूर्त उपमान है। मस्ती भी छा जाती है। मस्ती ही मधुभार है।

गूढ़ साँस सी अतिगतिहीन अपनी ही कंपन में लीन,
सजल कल्पना-सी साकार पुनः पुनः प्रिय पुनः नवीन। पंत

यहाँ उठती हुई लहर का उपमान सजल कल्पना अमूर्त है। लहर भी बार-बार उठती है और हर बार उसमें नूतनता प्रतीत होती है। कल्पना का भी एक रूप नहीं होता। वह भी पुनः-पुनः नवीन और प्रिय होती है।

लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम सी
यौवन की विनती सी भोली गुम सुम खड़ी शरम सी। दिनकर

बालिका से बनी हुई वधू की ये अप्रस्तुतयोजनायें हैं। पहली पंक्ति की 'एक नरम टहनी-सी' मूर्त उपमान है पर अंतिम पंक्ति के दोनों उपमान 'बेनती' और 'शरम' अमूर्त हैं। ये दोनों बालिका की शालीनता को एक मूर्त रूप दे देते हैं।

आजकल कवि युग की भावनाओं को व्यक्त करनेवाले उपमानों की उपेक्षा करते हैं।

उन्नीसवाँ रंग—अमूर्त का मूर्त से उपमान

अमूर्त की अप्रस्तुतयोजना सबसे कठिन है। कारण यह कि जो भाव अमूर्त हैं, भावात्मक हैं उनके वैसे ही मूर्त उपमान होने चाहिये, जिससे उनका भाव-साम्य हो और उपमान का प्रभाव प्रेषणीयता में लक्षित हो। इसके उदाहरण ध्यान से मनन करने के योग्य हैं।

"घर में आग लगाकर आँगन में सोना जितना खतरनाक काम है उतना ही खतरनाक काम है वासना को मन में स्थान देकर अपनी ओर से निश्चिन्त हो जाना"।

इसमें वासना को मन में स्थान देना अमूर्त उपमेय का 'घर में आग लगाकर निश्चिन्त होना' मूर्त उपमान लाया गया है।

कीर्ति दीप्ति शोभा थी नचती अरुण किरण-सी चारों ओर,
सप्त सिन्धु के तरल कणों में द्रुमदल में आनन्द-विभोर। प्रसाद

जैसे सूर्य की किरणें चारों ओर अपनी छटा छिटकाती हैं, वैसे ही देवताओं की कीर्ति, दीप्ति और शोभा नृत्य करती थीं। अभिप्राय यह कि सर्वत्र देवताओं का प्रभाव फैला हुआ था।

कीर्ति, दीप्ति और शोभा तीनों अमूर्त प्रस्तुत हैं पर इनकी अप्रस्तुत किरणें मूर्त हैं। किरणों की व्याप्ति, कीर्ति आदि के प्रसृत और विस्तृत रूप को सामने ला देती है।

तजकर तरल तरंगों को इन्द्रधनुष के रंगों को
तेरे-भ्रूभंगों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग सा मन। पंत

यहाँ मन बिंधता है जो अमूर्त है पर उसका मृग उपमान मूर्त है।

"तरह-तरह की अपरिचित छोटी-बड़ी चिन्तायें उसके दिमाग में आँधी

की तरह घुसकर ठीक उसी तरह धक्का-मुक्की कर रही थी जैसे किसी मेल ट्रेन के थर्ड क्लास के कंपार्टमेंट में चढ़नेवाले धींगा-धींगी करते हैं।"

इसमें चिन्ता अमूर्त और चढ़नेवाले मूर्त उपमान हैं। चिंता की धक्का-मुक्की करने में लाक्षणिक अर्थ लिया गया है और वह चढ़नेवालों का अभिधेयार्थ है। दिमाग- अप्रत्यक्ष का थर्ड क्लास प्रत्यक्ष उपमान है। इस प्रकार इनका साम्य कई अंशों में मूर्तामूर्तरूप है।

खिसकते अस्थिर मानस से
बाल- बादल-सा उठकर आज सरल अस्फुट उच्छ्वास,
अपने छाया के पंखों में नीरव घोष भरे शंखों में,
मेरे आँसू गूँथ फैल गम्भीर मेघ-सा
आच्छादित कर ले सारा आकाश। पंत

यहाँ उच्छ्वास प्रस्तुत अमूर्त है पर बाल बादल तथा गम्भीर मेघ दोनों उसके मूर्त उपमान हैं। इसमें उच्छ्वास के मेघ के समान व्याप्त होने की कामना की गयी है।

किन्तु उर में क्यों उदासी शाप-सी
प्रत्येक चेहरे पर लिपी जो राख-सी। ग० मु०

प्रथम चरण में प्रस्तुत अप्रस्तुत दोनों अमूर्त हैं पर दूसरी पंक्ति की 'राख' मूर्त है। यद्यपि योजना सुन्दर नहीं है पर राख उदासी के भाव व्यक्त करने में समर्थ है।

जल उठा स्नेह दीपक सा नवनीत हृदय था मेरा
अब शेष धूम रेखा से चित्रित कर रहा अँधेरा। प्रसाद

मेरा हृदय मक्खन-सा स्निग्ध था जिसमें दीपक-सा स्नेह जल उठा। यहाँ स्नेह अमूर्त प्रस्तुत के लिये दीपक मूर्त अप्रस्तुत है।

बीसवाँ रंग—मूर्तामूर्तरूप उपमान

एक ही उपमेय के लिये, चाहे वह मूर्त हो वा अमूर्त, मूर्त रूप में भी उपमान लाये जाते हैं और अमूर्त रूप में भी। कारण यह कि उनके उपमान दोनों रूपों में प्राप्त होते हैं। कवि को चाहिये कि वह अपनी प्रतिभा से ऐसे स्थानों में ऐसी अप्रस्तुतयोजना करे जो दूरारूढ़ न हो।

मृदु सुगन्ध-सी कोमल दल फूलों की,
शशि-किरणों-सी वह प्यारी मुस्कान।
स्वच्छन्द गगन की मुक्त, वायु-सी चंचल ;
खोयी स्मृति की फिर आयी-सी पहचान। निराला

इसमें मुसकान के उपमान सुगन्ध, किरण, गगन, वायु मूर्त और अमूर्त दोनों हैं। मुसकान में इनके जैसा प्रभाव विद्यमान है। यहाँ यह सन्देह किया जा सकता है कि मुसकान मूर्त है या अमूर्त। जो हो, जिन्होंने अधरों पर क्रीड़ा करती हुई मुसकान को देखा है, जिसका प्रभाव मुख-मण्डल पर पड़ता है, वे उसको मूर्त मानने में कभी सन्देह को अवसर न देंगे। कितने अमूर्त भी इसको मान सकते हैं।

पीले पत्तों की शय्या पर तुम विरक्ति-सी मूर्छा-सी
विजन विपिन में कौन पड़ी हो विरह-मलिन दुख विधुरा सी। पंत

इसमें छाया के अमूर्त विरक्ति तथा मूर्त दुखविधुरा दोनों प्रकार के उपमान हैं। छाया में इनके धर्म का प्रभाव लक्षित है।

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है। निराला

इसमें विधवा के लिये मूर्त लता और दीपशिखा के जैसे मूर्त उपमान हैं वैसे ही अमूर्त पूजा और स्मृति रेखा भी उपमान हैं। ये उपमान दोनों रूपों से विधवा की शारीरिक और मानसिक दोनों अवस्थाओं के चित्र उपस्थित करते हैं।

उधर गरजती सिन्धु लहरियाँ कुटिल काल के जालों-सी
चली आ रहीं फेन उगलती फन फैलाये व्यालों-सी। प्रसाद

लहरें मूर्त हैं। उनका एक उपमान अमूर्त है—कुटिल काल के जाल। भावार्थ यह कि जाल के डोरे जैसे लम्बे, पतले तथा गुँथे होते हैं वैसी ही वे लहरियाँ लम्बी, पतली तथा गुँथी हुई थीं। काल-जाल-जैसे वे भी घातक थीं। एक मूर्त उपमान है—फन फैलाये व्याल। व्यालों-जैसी लहरियाँ फेन उगलती थीं और प्राण ले रही थीं। दोनों ही उपमान उपयुक्त हैं, पर विपरीत लिङ्ग के—लहरी और व्याल—एक नगण्य दोष की झलक दिखाई पड़ जाती है।

यह कितनी स्पृहणीय बन गयी मधुर जागरण-सी छविमान।
स्मृति की लहरों-सी उठती है नाच रही ज्यों मधुमय तान॥ प्रसाद

इसमें उपमेय आशा अमूर्त है। इसके उपमान स्मृति की लहरें मूर्त हैं और जागरण तथा तान अमूर्त है। भावार्थ यह कि आशा सुख की रात के उत्थान जैसी मधुर है, स्मृति की लहरियों-सी मन्द-मन्द उठती है और मीठी तान-सी चक्कर काटती है। इसमें सोने, जागने, उठने और नाचने की क्रियाओं से एक रमणी जो सामने आ खड़ी होती है उससे उपमा अलंकार की ध्वनि है।

इसमें 'स्मृति की लहरें' जो उपमान है उसे बहुत से विवेचक अमूर्त मानेंगे और बहुत-से मर्मज्ञ उसे मूर्त समझेंगे। कारण यह कि चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने पर भी उसका मानसिक प्रत्यक्ष होता है और उसकी मूर्ति खड़ी हो जाती है।

उक्त उदाहरणों में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि अनेक उपमानों और उपमेयों में मूर्त और अमूर्त होने का संदेह किया जा सकता है।

पञ्चम रूप

उपमा-विचार

पहला रंग—उपमा

जहाँ उपमेय और उपमान में भिन्नता रहते हुए भी वाचक शब्द द्वारा समान धर्म बतलाया जाय वहाँ उपमा अलंकार होता है। अंग्रेजी में इस अलंकार को सिमिली (Simile) कहते हैं। इसके चार अंग होते हैं।

जिस व्यक्ति या पदार्थ से जिसकी उपमा दी जाय उसे उपमेय (The subject compared) और जिससे उपमा दी जाय वह उपमान (The object with which comparison is made) कहते हैं। उपमान और उपमेय सब प्रकार के व्यक्ति वा वस्तुयें हो सकती हैं। धर्म को (Common attribute) और वाचक शब्द को (The word complying comparison) कहते हैं।

हिन्दी में उपमेय को वर्णनीय, वर्ण्य, प्रस्तुत और प्रकृत, उपमान को अवर्णनीय, अवर्ण्य, अप्रस्तुत और अप्रकृत तथा धर्म को साधारण धर्म भी कहते हैं।

उपमा में जिस वर्णनीय का प्रसङ्ग उपस्थित होता है उसके अनुरूप अन्य वस्तुओं को कवि सामने लाता है। उसका उद्देश्य यह होता है कि वह जिस वस्तु का वर्णन करता है उसकी सुन्दरता, सुकुमारता, मधुरता, उग्रता, कठोरता, भयानकता, धीरता, वीरता, नीचता आदि की भावनायें तीव्र हो जायँ। कवि मुख के लिये चन्द्रमा, कमल आदि सुन्दर वस्तुओं को उपस्थित करके मुख की मधुर कान्ति की भावना को बढ़ा देता है, तीव्र कर देता है। इससे विषय बोधगम्य, अलंकृत, सरस, सरल और प्रभावोत्पादक बन जाता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इससे बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् का समन्वय सामने आ जाता है।

मंदोदरि के भेजे पावन नन्दन बन के पुष्प आभरण,
दमक उठेंगे तन की छवि से ज्यों शशि से रँग नवल शरद घन। पंत

कवि तन की निसर्ग-रमणीय छवि का वर्णन कर रहा है। वह चाहता है कि सीता की छवि की अनुभूति में तीव्रता लावे, उसको अधिकाधिक ग्राह्य रूप में व्यक्त करे। पुष्पाभरण उज्ज्वल थे। इसके लिये वह शरद् काल के नये घनों को सामने लाता है। ऐसे मेघों में जल नहीं रहता। इससे वे उज्ज्वल प्रतीत होते हैं। उसमें जब चंद्रमा पैठ जाता है तब उसमें और भी सौन्दर्य-मंडित उज्ज्वलता आ जाती है। सीता के उज्ज्वल अंगों की आभा से पुष्पाभरणों की भी वही सुषमा हो गयी। शशि का उपमान सीता के अंगों की छवि को दूनी ही नहीं बनाता, उसमें सुकुमारता के साथ नेत्राकर्षण की शक्ति भी ला देता है। हम शरद् घन के भीतर चमकते चाँद को देखकर प्रसन्नता का ही अनुभव नहीं करते, आँखों को भी शीतल कर लेते हैं।

इस प्रकार विषय, भावना और साम्य पर ध्यान देकर उपमा की जो योजना की जाती है उसीमें ऐसी शक्ति होती है और वही हमारे हृदय पर प्रभाव डालती है।

उपमा की अच्छाई और बुराई जाचने के लिये सब से पहले यह देखा जाता है कि कवि जिस वस्तु का वर्णन कर रहा है उसमें वह किस भाव को जाग्रत करना चाहता है। यदि वह भाव लाई हुई वस्तु से तीव्र हो उठता है या वर्णनीय विशद हो उठता है तो उसकी अप्रस्तुतयोजना सार्थक है। उपमा का सौन्दर्य उपमेय तथा उपमान के साङ्गोपाङ्ग मिलाने से प्रस्फुटित नहीं होता। मिलाने का काम—छोटाई-बड़ाई का विचार कवि का नहीं। पाठक भले ही उसे देखें-भालें। कवि तो देखता है कि दोनों का प्रभावसाम्य कैसा है और वह उसीका विचार करता है।

रमन गमन सुनि ससिमुखी भई दिवस को चंद।
परखि प्रेम पूरन प्रकट निरखि रहे नँदनंद॥ पद्मा

प्रिय का गमन प्रिया को दुखदायक होता है। विरह का प्रभाव मन ही पर नहीं पड़ता, शरीर पर भी पड़ता है। मन दीन तो तन मलीन हो जाता है। दिवस के चन्द्रमा की भी वही दशा होती है। उसकी कान्ति तो फीकी पड़ती ही जाती है, वह मलीन भी हो जाता है। यहाँ की उपमा नायिका की दशा का एक चित्र खड़ा कर देती है।

दूसरा रंग—उपमा की ध्यान देने योग्य बातें

उपमा के सम्बन्ध में सबसे पहली बात यह है कि जिस उपमेय वा प्रस्तुत के लिये उपमान वा अप्रस्तुत की योजना की जाय उसमें केवल सादृश्य का ही होना आवश्यक नहीं है। यह भी देखना आवश्यक है कि जिस वस्तु, व्यापार या गुण के सदृश जो वस्तु, व्यापार या गुण लाया जाता है वह उस भाव के अनुकूल है कि नहीं। उससे कवि जैसा रसात्मक अनुभव करे वैसा ही पाठक भी रसात्मक अनुभव करे, अप्रस्तुत भी वैसा ही भावोत्तेजक हो जैसा कि अप्रस्तुत।

सखि भिखारिणी सी तुम पथ पर फैलाकर अपना अंचल।
सूखे पत्तों को ही पा क्या प्रमुदित रहती हो प्रतिपल। पंत

भिखारिणी जैसे रूखा-सूखा पाकर सदा प्रसन्न रहती है वैसे ही सूखे ही पत्ते पाकर ही छाया भी क्या प्रमुदित रहती है? यहाँ सादृश्य एक-सा ही भावोत्तेजक है।

दूसरी बात यह कि उपमा में तुलना के लिये दो वस्तुयें होनी चाहिये। क्योंकि इसके बिना काव्यसौन्दर्य प्रस्फुटित नहीं होता। अन्य वस्तु के—उपमान के अभाव में ही आलंकारिकों ने दो अलंकारों की अवतारणा की है। एक उपमेयोपमा और दूसरा अनन्वय। पहले में उपमेय और उपमान को परस्पर एक दूसरे का उपमान और उपमेय कहा जाता है। जैसे

दो सिंहों का मनो अचानक हुआ समागम
राक्षस से था न्यून न कपि या कपि से था वह कम। रा० च० उ०

इसमें दोनों का परस्पर उपमेयोपमान भाव है।

दूसरे में उपमेय ही उपमान हो जाता है। दूसरी वस्तु के—उपमान के अभाव में ही ऐसा होता है।

उस काल दोनों में परस्पर युद्ध वह ऐसा हुआ,
है योग्य बस कहना यही अद्भुत वही ऐसा हुआ। गुप्तजी

उस युद्ध के ऐसा वही युद्ध था, यह जो उक्त है उससे इसमें परस्पर अनन्वयात्मक उपमेयोपमानभाव है।

इन उपमान रहित उपमाओं से वर्णनीय का अपूर्वत्व और महत्त्व भले ही विदित हो जायँ पर अन्य वस्तुओं के उपमानों से जो सौन्दर्य का उत्कर्ष

होता उसका यहाँ अभाव ही अभाव है। यदि हम कहें कि मुख मुख ही है तो इससे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कहाँ होती है! उपमा में इसके ही अनन्त उदाहरण हैं।

तीसरी बात यह है कि उपमेय की तुलना ऐसी वस्तु से होनी चाहिये जिससे उपमेय का सुविशद ग्रहण हो, अर्थचमत्कार को उत्कर्ष प्राप्त हो।

अरी नीच कृतघ्नते पिच्छलशिला संलग्न,
मलिन काई सी करेगी हृदय कितने भग्न। प्रसाद

इसमें अमूर्त का मूर्त उपमान है। यह कृतघ्नता का रूप कितना मारात्मक होता है, इसका चित्र खड़ा करता है। भाव की समानता के द्योतक तथा अर्थचमत्कारक उपमान काव्य को हृदयग्राहक बना देता है।

चौथी बात यह है कि उपमेय के जिस साधारण धर्म से उपमान की तुलना की जाय उसमें उपमेय से उपमान बढ़ा-चढ़ा हो। क्योंकि अप्रस्तुत-योजना का यही मुख्य उद्देश्य है। यदि उपमेय से उपमान हीन हुआ तो वह उपमेय की सौन्दर्यवृद्धि में सहायक ही कैसे होगा!

लतिका घूँघुट से चितवन की वह कुसुम दुग्ध सी मधु धारा।
प्लावित करती मन अजिर रही था तुच्छ विश्ववैभव प्यारा। प्रसाद

कामिनी की लज्जा-स्नेह-पूर्ण चितवन मन को कितनी प्रफुल्लित करती है, उससे कैसा आनन्द प्राप्त होता है, इसकी झाँकी इसमें कर लीजिये। चितवन की मधुधारा मन के आँगन को वैसे ही प्लावित कर रही है जैसे फूलों की दुग्धधारा हो। मधुधारा में केवल मिठास ही होती है, आनन्द-दायकता भी उसमें विद्यमान रहती है। कुसुम-दुग्ध-धारा का उपमान उसमें स्निग्धता, मादकता तथा सुगंध का भी समावेश कर देता है। यदि यहाँ मधु का अर्थ मदिरा ग्रहण करें, तो भी उसमें स्निग्धता गुण की वृद्धि तो करता ही है।

रुद्ध कण्ठ दृग शून्य विकल उर करता जब चीत्कार,
भीतर से रह रह ध्वनि उठती स्मृतियों सी सुकुमार,
'मत झुकना रे मन हो व्याकुल यह माया का देश,
जीवन आहुति देना इसकी सदा रहा आदेश'। रा० राघव

कविता में उर के चीत्कार की बात है और न झुकने की ललकार है। इस दशा में स्मृतियों के समान ध्वनि को सुकुमार बताना उचित प्रतीत नहीं

होता। इसके अनुरूप अंगार-जैसी वस्तु को तुलना के लिये लाना ठीक था। सुकुमार यहाँ काव्य को उत्कृष्ट नहीं बनाता। स्मृतियाँ सुकुमार ही नहीं होतीं, खून खौलानेवाली भी होती हैं। चीत्कार और ललकार के बीच सुकुमार की संगति नहीं बैठती।

पाँचवीं बात यह है कि उपमेय और उपमान का साधारण धर्म कवि-सम्मत और लोकविरुद्ध न हो। अभी तक हास का स्वच्छ ही वर्णन होता आया है और हो भी रहा है। इसके विरुद्ध स्वतन्त्रवाद का विधान काव्यानुरूप नहीं होता।

पृथ्वी कंपित होती क्षण क्षण अंबर हिलकर करता गर्जन,
सागर बन जाते थे इमन रक्तिम था तेरा अट्टहास। रां० रा०

कवि का भाव है कि उसका उच्च हास्य क्रोध से भरा हुआ था, उससे क्रोध फूटा पड़ता था या उससे यह व्यक्त होता था कि उसका हँसना आग जल उठने का द्योतक था। यह भाव अन्य प्रकार से भी व्यक्त हो सकता था। क्रोध का लाल रंग मान्य है। 'रक्तिम' से लक्षणा द्वारा क्रोध का ही भाव लिया जायगा। यहाँ कवि कविसम्प्रदायवादी प्रतीत होता है पर अट्टहास को रक्तिम विशेषण देकर उसके विरुद्ध हो गया है।

नये कलाकार भी इस कवि-सम्प्रदाय को मानते हैं—

खुल सी गयी हैं दो पहाड़ों की श्रेणियाँ
और बीच के अबाध अन्तराल में
शुभ्र धौत—
मानों स्फुट अधरों के
बीच से प्रकृति के
बिखर गया हो कल-हास्य,
एक क्रीड़ा लोल अमित लहर सा। अज्ञेय

इसके 'शुभ्र' 'धौत' दो विशेषण हास्य के उज्ज्वल वर्णन को मान्य बताते हैं।

नारी को गजगामिनी ही कहते, वृषभगामिनी नहीं कहते। कारण यह कि गंभीर गति में गज की ही प्रसिद्धि है, वृषभ की नहीं। मांसलता के कारण वृषभ-स्कन्ध ही स्कन्ध के उपमान के लिये उपयुक्त है। तभी तो 'वृषभकंध केहरि ठवनि' कहा गया है। आँखों की सूरत होने के कारण किसी स्त्री को 'कपर्दिकानयनी' नहीं कहते। क्योंकि इसमें सौन्दर्यपोषक कुछ भी भाव

नहीं है। यदि उसको मृगनैनी कहें तो उसके नेत्रों के, विशालता, सुन्दरता, लोभनीयता आदि गुण स्वभावतः झलक जाते हैं।

तभी तो कवि कहता है—

'जिसकी आँखों पर निज आँखें रख विशालता नापी है'।

ऐसे ही इनके लोकप्रसिद्ध साधारण धर्म हैं। ये बातें कविवर्ग की परंपरा से निर्विरोध मान्य होती चली आ रही हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि कवियों ने यों ही इनकी कल्पना नहीं की है।

छठी बात यह है कि उपमान का यथार्थ होने पर भी भाववर्द्धक और सुरुचि का परिचायक होना चाहिये। प्राचीनों ने जंघा को गजशुंड का उपमान दिया है। इसका कारण उसका चढ़ाव-उतार है। पर यह भाव-वृद्धि में कुछ भी सहायक नहीं होता। कदलीस्तम्भ के उपमान में तो कुछ स्निग्धता, शीतलता आदि गुण हैं जो समता में लाये जा सकते हैं। ये बातें गजशुंड में नहीं हैं।

एक दृढ़ पैर का ही स्थान है
और वह दृढ़ पैर मेरा है,
गुरु, स्थिर, स्थाणु सा गड़ा हुआ,
तेरी प्राण पीठिका पै लिंग सा खड़ा हुआ। अज्ञेय

'लिंग सा खड़ा हुआ' यथार्थ उपमान क्या वीभत्सता का चित्र नहीं खड़ा कर देता? उपमान के अनेकों दोष दृढ़ पैर उपमेय की मिट्टी पलीद कर देते हैं। "सौन्दर्य-भाव-विधायिनि अप्रस्तुतयोजने हन्त हतासि कविभिराहतापि सम्प्रति दुर्गतिमापन्नासि।"

यद्यपि उपमा में अनेकों बातें ध्यान देने योग्य हैं तथापि कुछ का यहाँ उल्लेख कर दिया गया है। अन्यत्र भी ऐसी बातें उपलब्ध होंगी।

तीसरा रंग—सादृश्यवाचक शब्द

इव, वत्, एवं, यथा, समान, एक-सा, तुल्य, प्रतिरूप, संकाश (सदृश), संनिभ (एक ही भाँति का), अनुरूप, प्रतिपक्ष, प्रतिद्वंद्वी, अविरोधी, सदृश, संवादी (समान), सजातीय, अनुकारी, प्रतिबिंब, सरूप, सम, संमित, सलक्षण (एक लक्षणवाले) एक रूप, सपक्ष (एक पक्षवाले) उपमित, प्रतिनिधि, सवर्ण आदि सदृशवाचक शब्द हैं।

संस्कृत में सादृश्यद्योतक, उपमावाचक, धर्मसाम्यसूचक इन वाचक शब्दों के अतिरिक्त प्रतिच्छन्द, प्रत्यनीक आदि अनेकों शब्द हैं, पर हिन्दी के लिये अपरिचित और अद्यावधि अव्यवहृत हैं।

हिन्दी में ज्यों, जैसे, से आदि दो-चार ही प्रचलित शब्द हैं और संस्कृत के सदृश, समान, सम आदि भी उपमा में व्यवहृत होते हैं।

सो से सी इव तूल लौं सम समान उर आन।
ज्यों जैसे इमि सरिस जिमि उपमावाचक शब्द। अलंकारमंजूषा

संस्कृत में ऐसी क्रियाओं का उपमा में प्रयोग होता है जो उपमान की अपेक्षा समतामूलक उत्कर्ष प्रकट करती हैं। जैसे, स्पर्धा करता है, विजय करता है, द्वेष करता है, विडंबना करता है, संधि करता है, हँसता है, ईर्ष्या करता है, डाह करता है, उसकी शोभा का हरण करता है, उसकी कान्ति छीनता है, उससे झगड़ता है, उसके साथ तुला पर चढ़ता है, उसी के पद पर चलता है, उसकी कक्षा में रहता है, उसका अनुसरण करता है, उसका निषेध करता है, उसका शील रखता है, उसका अनुकरण करता है, आदि।

हिन्दी में भी ऐसे प्रयोग होते हैं जहाँ उपमान और उपमेय के समता-द्योतक शब्दों को न रखकर ऐसा वर्णन किया जाता है कि उपमान और उपमेय में साम्यभाव प्रकट हो जाता है। लक्षणा से काम लेने के कारण इसे लक्ष्योपमा, सुन्दर होने के कारण ललितोपमा और उपमान की संकीर्णता के कारण संकीर्णोपमा भी कहते हैं।

बहसत निदरत हँसत अरु छवि अनुहरत बखानि।
शत्रु मित्र अरु होड़कर लीलादिक पद जानि॥ अलंकारमंजूषा

एक दो उदाहरण—

चिढ़ जाता था वसन्त का कोकिल भी सुनकर वह बोली,
सिहर उठा करता था मलयज इन श्वासों के सौरभ से। प्रसाद

चिढ़ जाता था और सिहर उठा करता था, ये दोनों ऐसी ही क्रियायें हैं।

मैं जमीन पर पाँव न धरती छिलते थे मखमल से पैर।
आँखें बिछ जाती थीं पथ में मैं जब करने जाती सैर॥ भक्त

मखमल से पैर छिलने की बात से यह सूचित होता है कि मखमल से भी उसके पैर मुलायम थे। मखमल भी समता के लिये ही आया है।

बंकिम भ्रू प्रहरण-पालित से थे कुरंग भी आँख लड़ा सकते नहीं। कुसुम-

हरिणों के आँख लड़ाने की असमर्थता उसके दीर्घ नेत्र होने की बात बताते हैं। पंतजी की 'प्रतीक्षा' नामक कविता में भी वर्णन का ऐसा ही ढंग अपनाया गया है कि उनसे उपमा का ही भाव लक्षित होता है—

कब से विलोकती तुमको ऊषा आ वातायन से,
संध्या उदास फिर जाती सूने गृह के आँगन से।
लहरें अधीर सरसी में तुमको तकतीं उठ-उठकर,
सौरभ समीर रह जाता प्रेयसि ठंढी साँसें भर।
हैं मुकुल मुँदे डालों पर कोकिल नीरव मधुवन में
कितने प्राणों के गाने ठहरे हैं तुमको मन में।
तुम आओगी आशा में अपलक हैं निशि के उडुगन!
आओगी अभिलाषा से चंचल, चिर नव, जीवन क्षण!

सौरभ समीर का ठंढी साँसें भरकर रह जाने का कारण यही तो है कि प्रेयसी की सुरभि-श्वास की समकक्षता मैं नहीं कर सकता। इसी प्रकार मधुवन में कोकिल का नीरव हो जाना आदि भी हैं। ऊषा आदि प्रत्येक वस्तु की समता प्रेयसी में है और यही कारण है कि वे प्रतीक्षा कर रही हैं कि हम उसकी समता कहाँ तक कर सकती हैं।

खुले केश अशेष शोभा दे रहे
पृष्ठ ग्रीवा बाहु उर पर तर रहे
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे
ज्योति की तन्वी तड़ित द्युति ने क्षमा माँगी। निराला

यहाँ क्षमा माँगने की क्रिया से देहद्युति को विद्युत् की द्युति से बढ़कर बताया गया है।

प्रकृति की सारी सौन्दर्यराशि लज्जा से
सिर झुका लेती जब देखती है मेरा रूप—
वायु के झकोरे से वन की लतायें सब
झुक जातीं, नजर बचाती हैं—
अंचल से मानों हैं छिपातीं मुख
देख वह अनुपम स्वरूप मेरा। निराला

इसमें सिर झुकाना, नजर बचाना आदि की क्रियाओं से इनकी अपेक्षा रूप की अनुपमता बखानी गयी है।

आता है ; सामने तो झुका सिर दृष्टि चरणों की ओर रखता है।
कहता है बालक इव क्या है आदेश माता॥ निराला

इसमें इव संस्कृत का वाचक है और हिन्दी में प्रयुक्त हुआ है। इव 'ऐसा' का अर्थ देता है।

हो जाना लता न आप लता संलग्ना,
करतल तक तो तुम हुई नवल दलमग्ना।
ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुम को
है मधुप ढूँढ़ता यथा मनोज्ञ सुमन को। गुप्तजी

इसमें संस्कृत का 'यथा' उपमावाचक है जो 'जैसे' का अर्थ देता है।

चौथा रंग—सादृश्य-वाचक शब्द-विचार

'येन' 'इव' आदि शब्द उपमावाचक भी हैं और उत्प्रेक्षावाचक भी। यथा तथा प्रायः उपमा में ही प्रयुक्त होते हैं। हिन्दी में भी देखते हैं कि ज्यों, जैसा, त्यों, वैसा ऐसा आदि वाचक शब्द उपमा में और जनु, मानों, मनु आदि वाचक शब्द उत्प्रेक्षा में रूढ़ से हो गये हैं किन्तु कविवर्ग जहाँ जो जी में आया, वहाँ वाचक शब्द का प्रयोग कर देता है।

संस्कृत में यद्यपि उपमा के शास्त्रार्थ का अन्त नहीं तथापि वाचक शब्दों में एक प्रकार की व्यवस्था है। येन, इव वाचकों से जहाँ उपमान की लोकतः सिद्धि हो, वहाँ साधर्म्य-सूचक ये शब्द उपमा अलंकार का ही द्योतन करते हैं और जहाँ उपमान का अंश लोक से असिद्ध कविकल्पित हो, कवि द्वारा गढ़ा गया हो वहाँ संभावना-सूचक ये शब्द उत्प्रेक्षा के वाचक होते हैं।[1]

जैसे कुपित मृगराज हो उन्मत्त या गजराज हो
कल्पान्त का दिनराज हो विषदन्त या अहिराज हो
वैसे अनुज को देख रघुवर बात यों कहने लगे
संकोचवश हो मौन लक्ष्मण भी उसे सहने लगे। रा०च०उ०

इसमें 'जैसे' उपमावाचक यथार्थ है और सादृश्यबोधक 'वैसा' शब्द भी है। किन्तु इसी उपमावाचक जैसे शब्द का प्रयोग उत्प्रेक्षा में किया गया है।

उसी तपस्वी से लंबे थे देवदार दो चार खड़े।
हुए हिम धवल जैसे पत्थर बनकर ठिठुरे रहे अड़े। प्रसाद

---

1 पृष्ठ ७१ देखो।

हिमधवल—बर्फ से श्वेत बने हुए देवदारु के दो चार वृक्ष ठिठुरकर जैसे पत्थर बन गये थे। इसमें वृक्ष न तो ठिठुरे हुए थे और न पत्थर ही हो गये थे, यह बात लोक से असिद्ध है, कविकल्पित है, इससे उत्प्रेक्षा है। फिर भी जैसे का प्रयोग है। प्रसादजी ने भी जैसे का प्रयोग उपमा में किया है—

लिपटे सोते थे मन में सुख दुख दोनों ऐसे,
चन्द्रिका अँधेरी मिलते मालती कुंज में जैसे।

जैसा-तैसा उपमान वाचक ही नहीं, प्रकारवाचक भी हैं। इससे इनके रहने से उपमा का भ्रम न होना चाहिये। जैसे—

दे न गया वह यह शरीर ही हाय! शील भी ऐसा,
करते बनता नहीं, चाहता हूँ मैं करना जैसा। गुप्तजी

संस्कृत का 'येन' वाचक के लिये हिन्दी में 'जैसा' शब्द है और दूसरा 'ज्यों' है। लिंगानुसार जैसा का रूप बदलता है और 'ज्यों' सदा एक सा रहता है।

देखो भाभी तीर्थराज की यह छटा,
वर्षा से आ मिली शरद की सी घटा!
हँसकर बोली जनक-सुता सस्नेह यों—
श्याम गौर तुम एक प्राण दो देह ज्यों। गुप्तजी

इसमें 'ज्यों' उपमा का वाचक है और ऐसे सुन्दर साम्य का उपस्थापक है कि पढ़कर पाठक का हृदय खिल उठता है। किन्तु इसका भी उत्प्रेक्षा में प्रयोग किया गया है।

नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ बन बीच गुलाबी रंग। प्रसाद

काले मेघ में बिजली खिल जाती है—चमक उठती है। इसी को लेकर कवि ने नील परिधान के बीच अधखुले अंग का साम्य उपस्थित किया है। पर देखना चाहिये कि यहाँ का ज्यों उपमावाचक है या उत्प्रेक्षावाचक। यहाँ साम्यस्थापक उपमा मानी जायगी पर है यहाँ उत्प्रेक्षा। क्योंकि बिजली का फूल नहीं होता। फूल, स्थायी होता है, बिजली की चमक जैसा क्षणिक नहीं। अंग बिजली-सी दीप्तिवाला है। यह कवि-अभिप्रेत दोनों से ही सिद्ध होता है। यहाँ का साम्य कल्पनामूलक है, सम्भावनापरक है, साम्यपरक नहीं।

फूटा प्रभात फूटा विहान
छूटे दिन करके कर ज्यों छवि के वह्निवाण
× × ×
फूटी किरणें ज्यों वह्निवाण ज्यों ज्योतिशल्य
तरु वन में जिनसे लगी आग
लहरों के गीले गाल चमकते ज्यों प्रवाल
अनुराग लाल। भा० भू० अग्रवाल

इस कविता की दूसरी पंक्ति का 'ज्यों' उत्प्रेक्षा का वाचक है। क्योंकि वह वह्निवाण छवि का है। तीसरी पंक्ति का 'ज्यों' उपमा का ही द्योतन करता है। क्योंकि वह्निवाण लोक-व्यवहार-सिद्ध है। ऐसे ही अन्य 'ज्यों' लोक सिद्ध हैं।

कविता में 'ज्यों' का प्रयोग उपमा और उत्प्रेक्षा का ही द्योतक नहीं होता, क्रम आदि का भी द्योतक होता है। जैसे—

ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निखरे-सी निकाई।

संस्कृत के 'इव' के स्थान पर हिन्दी में 'सा' है और यह लिंग-वचन के अनुरूप परिवर्तित होकर प्रयुक्त होता है। जैसे—

रुचिरतर निज कनक किरणों को तपन,
चरम गिरि को खींचता था कृपण-सा।
अरुण आभा में रँगा था वह पतन,
रजकणों-सी वासनाओं से विपुल। पंत

इसमें 'सा' और 'सी' लिंगानुसार उपमा के वाचक होकर आये हैं।

सा, सी, या से उपमेय और उपमान के बीच की कड़ी ही नहीं, कहीं-कहीं उपमेय की अवस्था भी सूचित करते हैं।

नचती है नियति नटी-सी कन्दुक क्रीड़ा-सी करती,
इस व्यथित विश्व आँगन में अपना अतृप्त मन भरती। प्रसाद

यहाँ पहली 'सी' उपमा का वाचक है। क्योंकि नियति का नटी-सा नाचना—क्षण-क्षण में परिवर्तन होना सम्भव है। बहुतों का भाग्य पलटता देखा जाता है। पर दूसरी 'सी' से नियति के गेंद खेलने की बात कवि की कल्पना है। सम्भावना की ही विशेषता है। इससे 'सी' को उत्प्रेक्षा-वाचक ही कहा जा सकता है।

ये छुरे नहीं चलते छिदती जाती स्वदेश की छाती है।
लाठी खाकर भारत-माता बेहोश हुई-सी जाती है। दिनकर

यहाँ की 'सी' भारत माता की दुर्दशा को ही सूचित करती है, न कि कोई उपमान लाकर भिड़ाती है।

अर्धनिद्रित-सा विस्तृत-सा,
न जागृत-सा न विमूर्छित-सा,
अर्ध जीवित-सा औ मृत-सा। पंत

यहाँ के 'सा' 'स्याही की बूँद' के चित्र उपस्थित करते हैं। इसमें कल्पना ही कल्पना है। हृदय को रमानेवाली भावुकता का अभाव है।

सूर्योद्भासित कनक कलश पर केतु था
यह उत्तर को फहर रहा किस हेतु था।
कहता-सा था दिखा-दिखाकर कर कला—
यह जंगम साकेत देव मन्दिर चला। गुप्तजी

यहाँ का 'सा' उत्प्रेक्षा का ही द्योतक है और उत्प्रेक्षा साकेत के देवमन्दिर को जाने की बात की। मानो मनो आदि उत्प्रेक्षा के ही निर्देशक हैं। जैसे,

मानो है यह भुवन भिन्न ही कृत्रिमता का नाम नहीं,
प्रकृति अधिष्ठात्री है इसकी कहीं विकृति का नाम नहीं। गुप्तजी

इसमें 'मानो' सम्भावना को सूचित करता है। भुवन एक ही है। उससे भिन्न कोई भुवन नहीं। फिर भी कवि ने भिन्न भुवन की कल्पना की है, उसकी सम्भावना की है। इससे यहाँ उत्प्रेक्षा है। यहाँ त्रिभुवन से कोई मतलब नहीं।

सिर चकराया गिरी घूम, कविरानी ने
रानी को सम्हाल लिया बढ़कर यत्न से।
गंगा गिरी मानो रविनन्दिनी की गोद में
अंक में धरा के गिरी बिजली तड़प के। वियोगी

यमुना गंगा में गिरी है पर यहाँ गंगा के ही यमुना में गिरने की बात कही गयी है। फिर भी दोनों का संगम लोकसिद्ध बात है और पृथ्वी पर बिजली का गिरना भी सम्भावित नहीं, सिद्ध है। अतः यहाँ उपमा के लिये 'मानो' वाचक का प्रयोग है।

अभिप्राय यह कि वाचक शब्दों पर निर्भर रहने से उपमा आदि का निर्णय यथार्थ नहीं हो सकता। इसके लिये आवश्यक है वर्ण्य के मर्म में पैठना।

पाँचवाँ रंग—साद्दश्य-निरूपण

साद्दश्य दो प्रकार का माना गया है—एक साद्दश्य, जिसमें आकार-प्रकार की समता रहती है और दूसरा साम्य, जिसमें गुण वा क्रिया का साम्य रहता है। इनमें प्रभाव-साम्य भी प्रच्छन्न रहता है। शब्द-साम्य शब्दालंकार का विषय है। वह अर्थमूलक अप्रस्तुतयोजना की समकक्षता नहीं कर सकता।

उसी तपस्वी से लम्बे थे देवदारु दो-चार खड़े। प्रसाद

इसमें देवदारुओं की तपस्वी की लम्बाई से तुलना है। यहाँ का साम्य केवल आकार-प्रकार का है।

खेतिहर लड़की की भोली-सी आँखों में, निंबुओं की फाँकों में,
मुस्काता अज्ञान, हँसता है सब जहान। प्र० माचवे

निबुओं की फाँके कहने से आँखों का एक आकार ही सामने आकर उसका रूप खड़ा करता है। ये फाँकें नारंगी की ही हैं।

अंजली के फूल क्या अंगार लेकर मैं खड़ा हूँ।
मैं पहाड़ों-सा अभय अब तक उठाये सिर खड़ा हूँ। रा० राघव

उन्नतशिर पहाड़ जैसे अडिग भाव से खड़ा रहता है वैसे मैं ही सिर उठाये अविचल रूप से खड़ा हूँ। यहाँ पहाड़ का उपमान रूप और गुण दोनों से खड़े होनेवाले व्यक्ति के लिये समता उपस्थित करता है। फिर भी स्थूल होने के कारण सिर उठाने के स्वरूप का ही प्रथम बोध कराता है। पीछे भयावस्था में भी अडिग होने का गुण सामने लाता है।

चमक रही थी तलवार आर्यपुत्र की
आँखें झुलसाती हुई कौंधा के समान ही। वियोगी

रंग-रूप में तलवार बिजली के समान ही है। इसके अन्तर में प्रभाव-साम्य भी है।

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती से आँसू के बूँद।

नील कमल के बीच सजे हुए मोती के समान आँखों में आँसू के बूँद हैं। यहाँ बूँद का मोती के रंगरूप से साद्दश्य है। उनमें बहुमूल्यता का प्रभाव-साम्य भी है।

अन्धकार की गुहा सरीखी उन आँखों से डरता है मन।-पंत

आँखों को अन्धकार की गुहा कहने से आँखों की गहराई और ज्योति-शून्यता का रूप तो हमारे सामने आता ही है, साथ ही भयंकर भावना को भी वे आँखें जाग्रत करती हैं।

लतिका घूँघुट से चितवन की वह कुसुम दुग्ध-सी मधुधारा
प्लावित करती मन अजिर रही था तुच्छ विश्व वैभव सारा। प्रसाद

यहाँ की उपमा रूपक के गर्भ में है। भावार्थ यह कि लतारूपिणी अप्सरायें पत्तों के से घूँघुट काढ़े कुसुमदुग्ध समान चितवन से मधुधारा बरसाती थीं तो प्रांगण-जैसा मन भर जाता था, यहाँ का उपमान यह व्यक्त करता है कि चितवन फूल के समान ही कोमल, मादक तथा प्रसादगुणपूर्ण थी।

लाज की मादक सुरा-सी लालिमा फैल गालों में नवीन गुलाब से
छलकती थी बाढ़-सी सौन्दर्य की अधखुले सस्मित गढ़ों से सीप से।
—पंत

यहाँ के उपमान यह व्यक्त करते हैं कि लालिमा में मादकता थी, गाल गुलाब से खुशरंग थे, मुस्कान से पड़े हुए गालों के गढ़े अधखुले सीप से अर्धविकसित थे। उक्त लालिमा ऐसी भासती थी जैसी सौन्दर्य की बाढ़ हो। कवि की यह कल्पना मुख के सौन्दर्य को सौगुना कर देता है।

उस हलाहल-सी कुटिल द्रोहाग्नि का
जो कि जलती आ रही चिरकाल से।
स्वार्थलोलुप सभ्यता के अग्रणी
नायकों के पेट में जठराग्नि-सी। दिनकर

यहाँ द्रोहाग्नि के जलने का उपमान जठराग्नि है। इससे जलने की क्रिया का वह रूप सामने आ जाता है जो जठराग्नि का है। द्रोहाग्नि भीतर-ही-भीतर जलती है और छार-खार कर देती है जैसे जठराग्नि।

धूमकेतु-सा चला रुद्र नाराज भयंकर
लिये पूँछ में ज्वाला अपनी अति प्रलयंकर। प्रसाद

आकाश का धूमकेतु बाण की ज्वालामयी क्षिप्र गति की तीव्रता को प्रकट करता है।

कवि कंठ गूँज उठा स्वाति मेघमन्द्र-सा
चातक से तृषित उपस्थित जो थे वहाँ
एक-एक बूँदवत् एक-एक शब्द को
लालायित होकर हृदयस्थ करने लगे। वियोगी

यहाँ 'मेघमन्द्र-सा' उपमान कविकंठ के गूँजने की गम्भीरता को व्यक्त कर रहा है। इसके रूपक के भीतर तीन सुन्दर उपमायें हैं।

छठा रंग—सादृश्य का सौन्दर्य

काव्य के लिये सादृश्य में सौन्दर्य का होना बहुत आवश्यक है। इसीसे पण्डितराज ने उपमा का यह लक्षण लिखा कि 'वाक्यार्थ को सुशोभित करने-वाले सुन्दर सादृश्य का नाम 'उपमा' अलंकार है। सुन्दरता का अर्थ चमत्कारक होना और चमत्कार का अर्थ है वह विशेष प्रकार का आनन्द जो सहृदयों का हृदयाह्लादक होता है। सहृदय ही सुन्दरता के यथार्थ पारखी हैं'[1]।

सुन्दर और असुन्दर के निर्णय में 'सौ सयाने एक मत' नहीं है। किसी को कोई वस्तु सुन्दर प्रतीत होती है किसी को वही असुन्दर। इसी से सुन्दरता का निर्णय सहृदयों पर डाला गया है। क्योंकि सहृदयो का हृदय ही निरन्तर काव्यानुशीलन से इस प्रकार का विशद हो जाता है, जो सुन्दरता की परख कर सकता है। साथ ही सादृश्य का वाक्यार्थोपस्कारक भी होना आवश्यक है। अर्थात् वह सादृश्य वाक्यार्थ को विभूषित भी करे।

उपर्युक्त चारुत्व, चमत्कार और आनन्द-विशेष सादृश्य के तत्त्व हैं, यह स्पष्ट है। यह भी ध्यान देने की बात है कि सादृश्य कैसे सुन्दर हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि वाग्विकल्प ही अलंकार है।[2] किन्तु जब तक उसमें चमत्कार—हृदयाकर्षकता का गुण नहीं आता तब तक वह अलंकार की श्रेणी में नहीं जाता। दूसरी बात यह कि वाग्विकल्प कवि प्रतिभा से प्रसूत होना चाहिये, अर्थात् वाग्विकल्प कविप्रतिभा का निदर्शक हो[3]। सारांश यह कि कवि-प्रतिभात्मक और विच्छित्तिविशेषात्मक होने से जैसे वाग्विकल्प अलंकारत्व लाभ करता है वैसे ही सादृश्य कविप्रतिभात्मक और विच्छित्ति-विशेषाधायक हो तो वह सुन्दर हो सकता है।

> एको हि दोषो गुणसन्निपाते
> निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।

---

१ सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः।
चारुत्वं च चमकाराधायकत्वं चमत्कारश्चानन्दविशेषः सहृदयहृदयसाक्षिकः।
—रसगंगाधर

२ अभिधानप्रकारविशेषाः एव चालंकाराः। ध्वन्यालोक

३ कविप्रतिभात्मकस्य विच्छित्तिविशेषात्मकस्यालंकारत्वात्।
—अलंकारसर्वस्वटीका

चन्द्रमा की किरणों में जैसे उसका एक कलंक छिप जाता है वैसे ही बहुत-से गुणों में मनुष्य का एक दोष छिप जाता है।

गुण-समूह ऐसे हैं जैसे इन्दु के रश्मिजाल। दोनों ही शान्त, शीतल, सुखद और सुन्दर। चन्द्रमा में रश्मिजाल है वैसे ही गुण-सन्निपात मनुष्य में है। वह मनुष्य गुणवान् ही होगा। यह स्वभावतः चन्द्र उपमान से ही प्रतीत होता है। किरणों के विपरीत जैसे कलंक होता है वैसे ही गुणों के विपरीत दोष भी है। जैसे संसार चन्द्रकिरणों के सम्मुख चन्द्र-कलंक की ओर ध्यान नहीं देता, वह उपेक्षित ही रहता है वैसे संसार गुणवान् के गुणों की ओर ही लक्ष्य रखता है, उसके एक दोष की ओर कोई झाँकी भी नहीं मारता। वह दोष किरणों में अंक-सा छुपा ही रहता है। इसमें सादृश्य का सौन्दर्य भी है, प्रतिभा का चमत्कार भी है। कालिदास की उपमा का क्या कहना!

अभिमन्यु का मृत देह उस पर शान्ति से रक्खा गया।
ज्यों क्रूरता की गोद में कारुण्य का भाजन नया। गुप्तजी

इसे पढ़ते ही मन में करुणा की लहर उठ जाती है और वातावरण शान्त-सा हो उठता है। काठों की चिता का क्रोड़ क्रूरता की गोद से कम नहीं होता। जैसे जलकर चिता देह को भस्मीभूत कर देती है वैसे ही क्रूरता के पाले पड़कर करुणा का नया बर्तन भी टूट-फूटकर मिट्टी में मिल जाता है। अभिमन्यु का वह मृत देह उपस्थित व्यक्तियों को करुणा के अगाध जलधि में डुबो देता था। करुणा उमड़ी पड़ती थी। अतः उसका करुणाभाजन बनना बड़ा ही सार्थक है। कोमल शरीर का नष्ट होना उतना ही सहज है जितना नये भाजन का नाश। इसकी विच्छित्ति विशेषता के कारण सौन्दर्य का स्रोत फूटा पड़ता है। मूर्त का अमूर्त उपमान है।

सत्य के आघात से
हैं झनझना उठती शिरायें प्राण की असहाय-सी
सहसा विपंची पर लगे कोई अपरिचित हाथ ज्यों। दिनकर

'शिराओं का झनझना उठना' का अर्थ है शिराओं में एक प्रकार की सनसनी उत्पन्न हो जाना। यह अर्थ लक्षणा से होता है और इससे शिराओं की सनसनाहट कुछ तीव्र रूप में प्रकट होती है। विपंची की झनझनाहट से मिलाने के लिये ही लाक्षणिक प्रयोग है। इससे दोनों के आघात, द्रुति, तीव्रता आदि की भी समता होती है।

जब कोई प्रच्छन्न सत्य प्रकट हो जाता है तब उसका अनुभव आघात से कम नहीं होता। जिस बात की संभावना नहीं वह सहसा हो जाय, तो क्यों न उसकी चोट लगे, क्यों न शिरायें जाग्रत हो जायँ, क्यों न उनके खून में तीव्र गति पैदा हो जाय, क्यों न भनभना उठें। उस समय वे असहाय हो उठती हैं।

वीणा बजानेवाला ही वीणा बजा सकता है। अनाड़ी नौसिखुये तो उस-पर हाथ मारेंगे ही, उसपर जोर से आघात करेंगे ही। क्योंकि सुर बाँधने के लिये तारों को छेड़ना जानते ही नहीं। खेलवाड़ करनेवाले अपरिचित हाथ सम्हलकर चलते हैं तो उनकी भनभनाहट वैसी नहीं होती। जब वे सहसा—एक-ब-एक उसपर पड़ जाते हैं तब जो भनभनाहट होती है उसकी दशा से असहाय प्राणों की भनभनाहट से तुलना कीजिये और कवि की भावना को तीव्र करनेवाले इस सुन्दर सादृश्य की दाद दीजिये। अपने चमत्कारक प्रतिभा-बल से कवि इस अप्रस्तुतयोजना द्वारा अपने भाव को सजीव रूप में सहृदयों को हृदयंगम करा देता है। यह कविता पंत की इस कविता को सामने ला खड़ा कर देती है।

बालकों का सा मारा हाथ कर दिया विकल हृदय के तार।
नहीं अब रुकती है झंकार यही था हा! क्या एक सितार।

अभिप्राय यह कि उपमा का सादृश्य सुन्दर होना चाहिये। उसमें चारुत्व हो, चमत्कार हो और सहृदयामोदक हो। यह प्रतिभाशाली कवि के लिये ही संभव है। बिना सुन्दर सादृश्य के उपमा का वह गुण नहीं रह जाता जो काव्य में सहृदयानन्दद होता है। इसीसे आलंकारिकों ने 'मनोज्ञसाधर्म्य-कथन को ही उपमा' कहा है।

सातवाँ रंग—सादृश्य की उपेक्षा

कभी-कभी कवि सादृश्य लाने में अप्रस्तुत की योजना में समानता की उपेक्षा कर देते हैं जिससे रसानुभूति में व्याघात पहुँचता है।

अचानक यह स्याही का बूँद लेखिनी से गिरकर सुकुमार।
गोल तारा-सा नभ से कूद सजनि आया है मेरे पास॥ पंत

गोलाई का सादृश्य रहने पर भी तारा और बूँद की समता कैसी! नभ से कूदकर आया है तो उसका प्रायः वही आकार-प्रकार होना चाहिये।

यह बात ध्यान रखने की है कि किसी बात की न्यूनता या अधिकता दिखाने में ही कवि-कर्म की इति-श्री नहीं समझनी चाहिये।

कहीं-कहीं प्राचीन कवियों ने भी सादृश्य और साधर्म्य की बड़ी उपेक्षा की है। जैसे,

> हरिकर राजत माखन रोटी
> मनो वराह भूधर सह पृथिवी धरी दशनन की कोटी। सूर

इसमें उत्प्रेक्षा की पराकाष्ठा है पर सादृश्य की मिट्टी-पलीद है। इस उत्प्रेक्षा में उपमा के समान उपमान की परिमाणगत अधिकता का दोष है। 'मनो' उपमा-वाचक नहीं, पर यथार्थ होने से उपमा अलंकार भी हो सकता है।

> कुन्द कहाँ पयवृन्द कहाँ अरु चन्द कहाँ सरजा जस आगे।
> 'भूषन' भानु कृशानु कहांऽब खुमान प्रताप महीतल पागे॥
> राम कहाँ द्विजराम कहाँ बलराम कहाँ रन में अनुरागे।
> बाज कहाँ मृगराज कहाँ अति साहस में शिवराज के आगे॥

इसमें शिवराज को एक साथ ही मृगराज और बाज कह डालना केवल खटकता ही नहीं, उपहासास्पद भी प्रतीत होता है। माना कि शिवाजी बाज-जैसे झपट्टा मारते होंगे पर एक ही व्यक्ति मृगराज होते हुए बाज भी बने तो उसकी हीनता ही द्योतित होगी।

> सेवहिं लखन वीर रघुवीरहिं जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं। तुलसी

यहाँ लक्ष्मण की अविवेकी के साथ तुलना करने से सेवा की अधिकता तो प्रकट होती है पर विवेक-शून्य की दृष्टि से लक्ष्मण की हीनता द्योतित होती है।

> नयन नीलिमा के लघु नभ में अलि किस सुषमा का संसार।
> विरल इन्द्रधनुषी बादल सा बदल रहा निज रूप अपार॥ पंत

यह 'स्वप्न' शीर्षक कविता का एक पद्य है। आँखों की नीलिमा में 'स्वप्न' इन्द्र धनुषवाले बादल के समान रंग बदलते नहीं आते। स्वप्न प्रत्यक्ष करना नीलिमा का काम नहीं, मानस का काम है।

> पेड़ों के पल्लव से ऊपर उठता धीरे-धीरे ऊपर
> अन्धकार चन्द्रिका-स्नात तरुओं पर जैसे पारा।
> रेखा प्राय धूम्र घर-घर से नील-नील नभ चला नगर से
> लहराता वह ऊपर छाता उसके ऊपर तारा। त्रिलोचन

पारा यहाँ तारा का तुक मिलने भर का है। तारा और पारा में कोई सादृश्य नहीं है। पारा का स्वभाव चंचल है। वह कभी स्थिर नहीं रह सकता। तारा उठता है, धीरे-धीरे ऊपर-ऊपर उठता है पर पारा में यह कभी संभव नहीं। बस कवि ने केवल उजले रंग को लेकर सादृश्य-कल्पना कर ली। उसमें तारा की स्थिरता, ऊर्द्धगामिता और वर्तुलता आदि कुछ भी नहीं है।

आज का दिन बादलों में खोजता था
दृष्टि में आकर शशक जैसे
चपल से चपल होकर
सघन पत्र-श्याम वन में खो गया था। त्रिलोचन

यहाँ दिन का बादलों में खोजना सूर्य का बादलों में ओझल हो जाना रूप अर्थ देता है। इस भाव को हृदयंगम कराने के लिये कवि ने जो संश्लिष्ट योजना की है, उससे वह दृश्य सामने नाचने लगता है। शशक का दृष्टिगोचर होते न होते त्वरित गति से सघन श्यामल वन में खो जाने की योजना बड़ी चमत्कारक है। किन्तु सूर्य को शशक बनाना समानता को सत्यानाश में ही मिलाना है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कवि जब अलंकार या कल्पना के कारण परवश हो जाते हैं तब अपनी-अपनी कविता के प्रति सच्चे नहीं रह जाते।

आठवाँ रंग—उपमा की व्यापकता

उपमा और दृष्टान्त ये दो ऐसे व्यापक अलंकार हैं कि इनका कहीं भी अभाव नहीं दीख पड़ता। क्या लोक और क्या वेद, क्या शास्त्र और क्या काव्य, सर्वत्र ही हमारे सामने अपनी झलक दिखा देते हैं। हम दिन-रात अपनी बातचीत में उपमाओं का व्यवहार करते हैं और उधर ध्यान भी नहीं देते कि अपनी बात को सुगम वा सुन्दर बनाने के लिये इतनी उपमाओं का व्यवहार करते हैं।

कोयल-सी काली, चाँद-सा मुखड़ा, ताड़-सा लम्बा, कुत्ता-सा भूँकता है, खून-सा लाल, तवा-सा गरम, काँटा-सा नुकीला, काठ-सा सूखा, पत्थर-सा कड़ा, झाँझ-सा झनझनाता है, फूल-सा कुम्हला गया है, आम की फाँक-सी आँखें हैं इत्यादि।

ऐसी उपमायें दिन-रात के बोलचाल की हो गयी हैं। इनमें उपमा का वह सौन्दर्य नहीं रहा, जिससे रसिकों में आकर्षण पैदा करे; इनमें कवि की प्रतिभा का वह चमत्कार नहीं रहा, जिससे सहृदय चमत्कृत हो उठें।

अप्पयदीक्षित ने लिखा है कि 'सभी अलंकार तभी अलंकारत्व को प्राप्त करते हैं, जब कि उनमें आह्लादकता होती है। इसी से 'गाय की सी नील-गाय होती है,' इसको उपमा नहीं कहेंगे। 'ठूँठ है या पुरुष', 'यह संदेहालंकार नहीं। 'यह चाँदी है', यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार न होगा'।[1]

लौकिक उपमायें केवल विषयबोध ही नहीं करातीं बल्कि वाक्यार्थ को भी अलंकृत करती हैं। उनमें अनुभूति की भी गहराई होती है। जैसे—

सासुजी के बोलिया अइसन लागेला,
जैसे गंगा रे जमुनवा लहरिया मारेला।
ननदी के बोलिया अइसन लागेल',
जैसे भादों के मिरचइया तितैया लागेला।
देवरजी के बोलिया अइसन लागेला,
जैसे तातल जलेबिया मिठइया लागेला।

सास, ननद और देवर की बोलियों की ये उपमायें जितनी स्वाभाविक, जितनी सुपरिचित और जितनी सर्वविदित हैं, उतनी ही उनमें मार्मिकता और व्यावहारिकता भी है। ग्रामीण कवि के लिये समुद्र बहुत दूर है। वह गंगा और यमुना की लहरियों से ही सन्तोष कर लेता है। उसकी दौड़ उतनी ही दूर तक है। मिठाई, मिर्चाई का अनुभव तो दिन-रात का है। नई बहू के लिये सास, ननद और देवर के व्यवहार जिस रूप में उपस्थित होते हैं उनका यह खासा चित्र है जिसमें उपमाओं ने जान डाल दी है। यद्यपि ये उपमायें ग्राम्य कही जा सकती हैं तथापि इनमें सौन्दर्य है, भले ही प्रसिद्ध न हों। यदि ऐसी बात न होती, तो उदाहरण के रूप में यह रचना उद्धृत नहीं होती। सहृदयता ही इसकी कसौटी है।

शास्त्र की उपमायें विशेषतः अर्थों को विशद करने के लिये ही दी जाती हैं। वहाँ सौन्दर्य और रमणीयता अभीष्ट नहीं होती।

---

1. सर्वोऽपि हि अलंकारः कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेन काव्यशोभाकर एव अलंकारतां भजते। अतः गोसदृशो गवय इति न उपमा। स्थाणुर्वापुरुषो वा इति न सन्देहः। इदं रजतम् इति न भ्रान्तिमान्। चित्रमीमांसा

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्। मुण्डक १।१।७

जैसे मकड़ी जाले को बनाती और निगल जाती है, जैसे पृथिवी से औषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे सजीव पुरुषों से केश और लोम उत्पन्न होते हैं वैसे ही उस अक्षर से—ब्रह्म से यह विश्व प्रकट होता है।

ये उपमायें इस विषय को सरलता से समझा देती हैं कि अक्षर—ब्रह्म भूतों का किस प्रकार कारण है और उनकी उत्पत्ति कैसे होती है। महादेवी-जी इसीको इस प्रकार कहती हैं—

स्वर्णलूता सी कब सुकुमार हुई उसमें इच्छा साकार?
उगल जिसने तिनरंगे तार बुन लिया अपना ही संसार।

वेदान्ती आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता मानते हैं। इसको एक उपमा द्वारा देवीजी यों समझाती हैं—

मैं तुम से हूँ एक, एक है जैसे रश्मिप्रकाश।

इसके लिये पन्तजी एक दृष्टान्त देते हैं—

मृण्मय प्रदीप में दीपित हम शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम,
हम एक ज्योति के दीप अखिल ज्योतित जिनसे आँगन।

यह दीप-दृष्टान्त विषय को खूब स्पष्ट तो करता ही है, साथ ही रमणीयता की भी सृष्टि करता है। दीप क्षुद्र है पर आँगन को ज्योतित करता है। कवि की कल्पना ने शुष्क विषय को भी सरस बना दिया है।

काव्य की उपमायें दीप-दृष्टान्त की भाँति नहीं, चन्द्रिका की भाँति होती हैं। वह चारों ओर जैसे अपना प्रकाश ही नहीं फैलाती, एक मधुर रमणीयता की झाँकी भी कराती हैं, उसी भाँति काव्य की उपमायें वस्तु को व्यक्त ही नहीं करतीं, मनोहरता की भी सृष्टि करती हैं।

घिर रहे थे घुँघुराले बाल अंस अवलंबित मुख के पास
नील घन शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास। प्रसाद

क्षुद्र-क्षुद्र नील मेघ खण्डों से बालों की उपमा दी गयी है। इस उपमा से उनकी सुकुमारता ही केवल प्रकट नहीं होती, बल्कि घनता, स्निग्धता तथा आर्द्रता भी लक्षित होती है। ये बाल संयत हैं, तर्क-जाल से बिखरे

नहीं है। श्रद्धा कल्याणकारिणी है। बंधन में डालनेवाली इड़ा नहीं। श्रद्धा के अनुरूप ही उसके केश सुकुमार हैं। उसके आन्तरिक भाव के अनुकूल ही भावानुगामिनी उपमा है। रूप, रंग, आकार-प्रकार की समता तो है ही, साधर्म्य की भी समानता असामान्य है।

नवाँ रंग—उपमा की प्रधानता

अर्थालंकार के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि अधिकांश अलंकारों के मूल में साम्य अथवा विरोध है। उपमा ही समतामूलक अलंकारों का शिरोमणि है और यह बहुत व्यापक है। कारण यह कि सांसारिक कोई भी पदार्थ जब दृष्टिगत वा करगत होता है तब हम उसकी तुलना करने लगते हैं। यह किसके समान है, ऐसा और कोई पदार्थ है या नहीं, इत्यादि। यह तुलना उस वस्तु के आकार-प्रकार की या रंग-रूप की या गुण-धर्मों की की जाती है। जहाँ समता नहीं होती, वहाँ विरोध दिखाई देता है। किन्तु समान रूप-रंग-गुण-धर्मवाली वस्तुओं की अधिकता के कारण विरोध उतना व्यापक नहीं है। फिर भी ज्ञान-ग्रहण का वह भी एक साधन है।

समता की विशेषता इस कारण भी है कि यह ज्ञानग्रहण का एक मूल कारण है। ज्ञान अनुभूति है, और वह चार प्रकार की है। उनमें एक उपमान है। उपमान से ही तुलना होती है। उपमा उपमानमूलक ही होती है। दूसरों को समझाने के लिये, दुर्बोध को सुबोध बनाने के लिये जो उदाहरण और दृष्टान्त दिये जाते हैं, उनमें भी उपमा की भाँति उपमान काम में लाये जाते हैं।

जब उपमान ज्ञान का साधन है तब उसका एक काम हो जाता है वाक्यार्थबोध, वाक्यार्थस्पष्टीकरण वा वाक्यार्थ-यथार्थज्ञापन। किन्तु वह ज्ञान का ही साधन नहीं है, अलंकार भी है। उसका इस प्रकार दूसरा काम हो जाता है, वक्तव्य विषय को अलंकृत करना। यदि हम कहें कि कपड़ा दूध-सा उजला है या बर्फी चौकोण-सी है, तो वाक्यार्थ स्पष्ट हो जाता है; पर वह अलंकृत भी होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

मेरे स्वर परिमित हैं जैसे नभ के तारे। रा० का० वर्मा

यहाँ कवि का लक्ष्य स्वरों का परिमाण बताना ही है। असंख्य होते हुए भी परिमित हैं। उपमा से यही द्योतित होता है।

तरंगें उठीं पर्वताकार भयंकर करतीं हाहाकार। महादेवी

तरंगों की उच्चता का परिमाण बताने के लिये ही पर्वत का सादृश्य उपस्थित किया गया है।

ऐसे स्थलों में कवि का उद्देश्य किसी बात को उपमा द्वारा समझाना ही प्रतीत होता है, वाक्यार्थ का स्पष्टीकरण ही अभिप्रेत रहता है।

जब हम कहते हैं कि शरीर मक्खन-सा मुलायम है तब वाक्यार्थ तो स्पष्ट होता ही है, वह अलंकृत भी हो जाता है। क्योंकि इससे शरीर की सुकुमारता तो व्यक्त होती ही है, उसकी स्निग्धता भी सामने आ जाती है। ताप द्रवता का गुण भी शरीर में झलक जाता है।

कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥ तुलसी

राम मुझे कैसे प्रिय लगें, इसके लिये दो उपमायें दी गयी हैं। कामी को नारी सबसे बढ़कर प्रिय है और लोभी भी दाम के लिये जैसे लालायित रहता है वैसा दूसरा कोई नहीं। यहाँ प्रिय लगना जो वक्तव्य विषय है उसकी स्पष्टता तो हो ही जाती है वह अलंकृत भी हो जाती है। ये दोनों उपमायें तुलसी दास की अगाध भक्ति-भावना का द्योतन बड़े प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करती हैं।

नवल सुन्दर श्याम शरीर की
सजल नीरद सी कल कान्ति थी। हरिऔध

इसमें सजल नीरद की उपमा श्याम शरीर की शोभा को द्विगुणित कर देती है, वाक्यार्थ को अलंकृत कर देती है।

कनक से दिन, मोती सी रात,
सुनहली साँझ, गुलाबी प्रात। महादेवी

कनक दिन की आभा को और मोती चाँदनी रात की स्वच्छता को सुन्दर ढंग से हमारे सामने ला खड़ा करता है। ये उपमायें अर्थ को ऐसा अलंकृत करती हैं जो सहृदय-संवेद्य है।

इस प्रकार उपमा के दो प्रयोजन—वाक्यार्थ को स्पष्ट करना और वाक्यार्थ को अलंकृत करना प्रत्यक्ष हैं। उपमा का अलंकार की दृष्टि से बहुत महत्त्व है, वाक्यार्थ स्पष्टीकरण की दृष्टि से कम। पहले पर ही दूसरा निर्भर करता है। जहाँ दोनों हों वहाँ उपमा की विशेष सार्थकता है।

दसवाँ रंग—उपमा अर्थालंकारों का मूल है

उपमान वा अप्रस्तुतयोजना का क्षेत्र अर्थालंकार है। अर्थालंकारों में सादृश्यमूलक उपमा अलंकार। अप्पयदीक्षित कहते हैं कि "काव्यरूपी रंग-शाला में यह उपमारूपी नटी चित्रभूमिका के भेद से अनेक रंग-रूपों में आकर नाचती हुई काव्यमर्मज्ञों का मनोरंजन करती है।"[1]

देखिये—'चंद्रमा के समान मुख है' यह हुई उपमा। यही भणिति—उक्ति-भंगी के भेद से अनेक अलंकारों का रूप धारण कर लेती है। जैसे, चन्द्रमा के समान मुख है और मुख के समान चन्द्रमा—उपमेयोपमा। मुख के ऐसा मुख है—अनन्वय। मुख के समान चन्द्रमा है—प्रतीप। चन्द्रमा को देखकर मुख का स्मरण हो आता है—स्मरण। मुख ही चन्द्रमा है—रूपक। मुख-चन्द्र से ताप शान्त होता है—परिणाम। यह मुख है या चन्द्रमा—सन्देह। चन्द्रमा समझ चकोर ने तेरे मुख का पीछा किया—भ्रान्ति। मुख को चन्द्रमा समझ चकोर और कमल समझकर भ्रमर प्रसन्न होते हैं—उल्लेख। चन्द्रमा है, मुख नहीं है—अपह्नुति। मुख चन्द्रमा है—उत्प्रेक्षा। मुख चन्द्रमा ही है—अतिशयोक्ति। मुख से चन्द्रमा और कमल हार गये—तुल्ययोगिता। रात में उसका मुख और चन्द्रमा आनन्दित होते हैं—दीपक। तेरा मुख है इससे हम और चन्द्रमा है इससे चकोर प्रसन्न होते हैं—प्रतिवस्तूपमा। आकाश में चन्द्रमा और पृथ्वी पर तेरा मुख है—दृष्टान्त। मुख चन्द्रमा की कान्ति धारण करता है—निदर्शना। निष्कलंक मुख चन्द्रमा से भी चढ़ा-बढ़ा है—व्यतिरेक। तुम्हारे मुख के साथ चन्द्रमा रात में हँसता है—सहोक्ति। मुख के सामने चन्द्रमा फीका लगता है—अप्रस्तुतप्रशंसा, आदि।

चित्रमीमांसाकार को इतना कहने ही से सन्तोष नहीं होता। वे आगे भी कहते हैं कि "ब्रह्मज्ञान से जैसे विचित्र विश्व का ज्ञान होता है वैसे ही उपमा के ज्ञान से भी उसका ज्ञान होता है।"[2]

राजशेखर कहते हैं—उपमा अलंकारों की मुकुटमणि है, काव्यसम्पत्ति का सर्वस्व है और मेरा कहना तो यह है कि उपमा कविवंश की माता के समान है।[3]

---

१ उपमैषा शैलूषी, संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्।
रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः। चित्रमीमांसा
२ तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात्। ज्ञातं भवति...।
३ अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम॥ अलंकारशेखर

रूय्यक लिखते हैं कि "प्रकार-भेद से उपमा अलंकार ही अनेक अलंकारों का मूल है।"[1]

सादृश्यगर्भ या साधर्म्यमूल अलंकारों में विद्याधर ने उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त १ अर्थान्तरन्यास २ पर्यायोक्ति ३ व्याजस्तुति ४ आक्षेप (विशेषण-विशेष्यविच्छित्याश्रय); ५ परिकर (विशेषणविच्छित्याश्रय) परिकरांकुर (विशेष्यविच्छित्याश्रय) नामक अलंकारों को भी मान लिया है।

इनके अतिरिक्त, १ मीलित, २ सामान्य, ३ तद्गुण, ४ सम आदि ऐसे अन्य अलंकार भी हैं जिनमें सादृश्य की झलक पायी जाती है। इनका एक नाम दिया जाय तो 'मीलनोपमा' दिया जा सकता है।

सारांश यह कि अलंकार के सारे प्रपंच में औपम्य-गर्भ अलंकारों की सर्वश्रेष्ठता है।

ग्यारहवाँ रंग—उपमा के भेद

प्राचीन आलंकारिक दण्डी ने उपमा के अनेक भेद किये हैं जिनकी प्रसिद्धि बहुत कम है। अन्यान्य अलंकारों के प्रौढ़ ग्रंथों—काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि ग्रंथों में जिन उपमा-भेदों का वर्णन पाया जाता है उनका ही बहुल प्रचार है और वही परम्परा चली आ रही है। उनके वर्णन की यहाँ आवश्यकता नहीं। काव्यादर्श से यहाँ दण्डी के भेदों का ही उल्लेख किया जाता है।

हे मुग्धे, तुम्हारा करतल कमल के समान लाल है, इस समान धर्म के साक्षात् कथन से यहाँ धर्मोपमा हुई। तुम्हारा मुख लाल कमल-सा है और आँखें नील कमल-सी हैं। इन उदाहरणों में समान धर्म का आरोप वस्तुओं में होने से वस्तूपमा है। खिला हुआ यह कमल तुम्हारे मुख के समान हुआ। इस प्रसिद्ध विपर्यास से—उलट-फेर से (उपमान और उपमेय के) यह विपर्यासोपमा हुई। तुम्हारे मुख सा यह कमल है और कमल के समान तुम्हारा मुख। दोनों के एक दूसरे की प्रशंसा करने के कारण यह अन्योन्योपमा है। इसका प्रसिद्ध नाम अनन्वय है। चन्द्रमा का प्रतिद्वन्द्वी (मुख चन्द्रवत् है

---

[1] उपमैव च प्रकारवैचित्र्येण अनेकालंकारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा।
काव्यालंकार

और कमल चन्द्रमा का शत्रु है, क्योंकि चन्द्रमा उसे गला देता है) श्रीयुत (शोभायुक्त और लक्ष्मीनिवास) और सुगंधयुक्त (मुख सुगंध श्वासवाला है) कमल के समान तुम्हारा मुख है। इसमें मुख और कमल का श्लेष होने से श्लेषोपमा है। जहाँ समान रूप के शब्दों की वाच्य-शक्ति से भिन्न-भिन्न अर्थ लेते हुए समानता प्रकट हो वहाँ समानोपमा होती है। जैसे, यह बाला सालकाननशोभिनी उद्यानमाला के समान है। ·उद्यानमाला शाल-वन-शोभिनी है और बाला स+अलक+आननशोभिनी है अर्थात् सुन्दर अलकों से—लटकते लटों से शोभित मुखवाली है। कमल में धूल बहुत हैं और चन्द्रमा क्षयी है। तुम्हारा मुख उनके समान होने पर भी बढ़ा-चढ़ा है। यह निन्दोपमा हुई। कमल ब्रह्मा की उत्पत्ति का स्थान है और चन्द्रमा शिव के सिर पर रहता है। ये दोनों तुम्हारे मुख के समान हैं। यह प्रशंसोपमा है। मेरा मन कहना चाहता है कि तेरा मुख चन्द्रमा के समान है चाहे यह कथन गुण हो वा दोष। यह आचिख्यासोपमा है। कमल, शरच्चन्द्र और तुम्हारा मुख, ये तीनों परस्पर विरोधी हैं। इससे यहाँ विरोधोपमा है। कलंकी और जड़ चन्द्रमा की ऐसी शक्ति नहीं है जो तुम्हारे मुख से स्पर्धा करे। यह प्रतिषेधोपमा ही है। तुम्हारे मुख में केवल नेत्र ही मृगनेत्र-सा है और चन्द्रमा का सर्वांग मृगांकित है तथापि वह मुख तुल्य ही है। उससे बढ़कर नहीं है। इसे चाटूपमा कहते हैं। चाटु का अर्थ खुशामद है। यह कमल नहीं, मुख है, ये 'भौंरे नहीं नेत्र हैं' इस प्रकार स्पष्ट, सादृश्य के कथन के कारण यहाँ तत्त्वाख्यानोपमा हुई। चन्द्रमा और कमल की कक्षा का—समानता का अतिक्रमण करके—बढ़ करके तुम्हारा मुख अपने ही समान है। यह असाधारणोपमा है। 'तुम्हारा मुख ऐसा शोभायमान है जैसे सभी कमलों का प्रभापुंज एकत्रित हुआ हो।' यह अभूतोपमा है। इस मुख से कड़ी बात का निकलना वैसा ही है जैसे चन्द्रमा से विष और चन्दन से आग। यह असंभावितोपमा है। तुम्हारा स्पर्श चन्दनजल, चन्द्रकिरण और चन्द्रकान्तमणि आदि के समान शीतल है। इसमें गुणातिशय होने से इसे बहूपमा कहते हैं। हे कृशांगी, तुम्हारा मुख चन्द्रबिम्ब से निर्मित जैसा है, कमलगर्भ से निकला जैसा है, यह विक्रियोपमा है। जिस प्रकार तेज सूर्य को, सूर्य दिन को और दिन आकाश को प्रकाश देता है उसी प्रकार पराक्रम ने आपको श्री प्रदान की। यह मालोपमा है। जब एक वाक्य के अर्थ से दूसरे वाक्य के अर्थ की कोई उपमा देता है तब वाक्यार्थोपमा होती है। जैसे, नलिनी के समान इस कृशांगी के कमल के समान मुख को भ्रमर के समान बार-बार

पान करके मैं ठहर गया। किसी एक वस्तु का कुछ वर्णन करके जहाँ उसीके धर्म के समान अन्य वस्तु का वर्णन करके सादृश्य की प्रतीति करायी जाय वहाँ प्रतिवस्तूपमा होती है। जैसे, उत्पन्न हुए राजाओं में अभी तक कोई तुम्हारे ऐसा नहीं हुआ। पारिजात का ऐसा दूसरा वृक्ष नहीं हुआ यह ठीक ही है। जब सामान्य विधि दिखलाते हुए हीन को अधिक से—छोटे को बड़े से मिलाया जाय तब तुल्ययोगोपमा कहते हैं। जैसे, इन्द्र स्वर्ग की रक्षा के लिये और आप पृथ्वी की रक्षा के लिये जागरूक बने रहते हैं। इन्द्र असुरों को मारते हैं और आप घमंडी राजाओं का नाश करते हैं। हे राजन् कान्ति से चन्द्रमा का, तेज से सूर्य का और धैर्य से समुद्र का आप अनुकरण करते हैं, इससे यहाँ हेतूपमा हुई।"

अनन्वय, प्रतिवस्तूपमा जैसे एक-दो अलंकार इसमें आ गये हैं जिनका आधुनिक अलंकार ग्रन्थों में समावेश है।

बारहवाँ रंग—उपमा का विवेचन

अनेक कवियों ने उपमा की ऐसी साम्ययोजना की है कि उसका महत्त्व ही नष्ट हो जाता है और अलंकार की अवतारणा व्यर्थ हो जाती है।

> एकाकी जिस भाँति सूर्य हरता संसार का ध्वान्त है,
> जैसे सिंह-किशोर भी गहन में स्वातन्त्र्य से घूमता।
> वैसा ही गृहवंशदीप सुत भी होता अकेला सुधी,
> देता ताप न पात्र को, न गुण को, खोता नहीं स्नेह भी। —अनूप

इसमें जैसा-वैसा का कोई साम्य नहीं। होता तो अंधकार दूर करने और स्वतंत्र संचरण की बात सुत के विषय में कही जाती। बिम्ब प्रतिबिंब भाव का भी अभाव होने से इसमें दृष्टान्त भी नहीं कहा जा सकता। इसमें उपमेय सुत की बात ही दूसरी कही गयी है। क्या? वह सुधी होता है। वंशदीप होने और सुधी होने में क्या समता! वह पात्र को ताप नहीं देता। कैसी विचित्र बात है! पात्र तो वही है। दीप में स्नेह भी रहता है, वर्तिका भी रहती है जिसका गुण शब्द से बोध कराया गया है। दीप जलता है तो सर्वांग को नहीं तो अग्रभाग को ताप देता ही है। गुण-वर्तिका तो जलती ही है। उसको ताप न देने की बात कैसे कही जा सकती है? जलने से स्नेह को खोना ही पड़ेगा। गृहवंशदीप न अपने को सतावे, न गुण पर आँच आने दे और

न स्नेह को खोवे। ये सुपुत्र के अच्छे लक्षण हो सकते हैं; पर दीप की दशा तो इसके विपरीत ही होती है। फिर दीपक के रूपक से क्या लाभ? जैसे-वैसे लाने की क्या आवश्यकता? यहाँ व्यतिरेक भी नहीं कहा जा सकता। उसकी ध्वनि की बात भिड़ायी जा सकती है पर उपमा का रूप कहाँ रह जाता। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध का साथ ही सम्बन्ध मिट जाता है। ऐसी योजना न तो काव्यसौंदर्य की वृद्धि में सहायता करती है और न पाठकों को भाव-ग्रहण में सहायता। उल्टे उन्हें उलझन में डाल देती है। विशेषणों की कोई सार्थकता नहीं है।

> द्रौपदी के पट जैसा, वारिधि के तट जैसा
> वामन की माँग सा अनन्त भूख की पुकार सा दुरन्त,
> बढ़ता चला गया व्योम भर छा गया। अज्ञेय

यह धूलि-कण के बढ़ने का वर्णन है। इसमें उसके विस्तार का बोध कराना कवि का उद्देश्य है। इसके लिये कई अप्रस्तुतयोजनायें लायी गयी हैं। किन्तु प्रत्येक का धर्म एक नहीं है। पहली पंक्ति की दोनों योजनाओं में धर्म का लोप है। पट और तट दोनों ही अनन्त और असीम कहे जा सकते हैं। पर दोनों के रूप एक नहीं हैं। पट में अनन्तता है और उसका अन्त अदृश्य रूप में है या है ही नहीं, यह कहा जा सकता है। इसका विस्तार साड़ी के आकार ही तक सीमित माना जा सकता है। पर समुद्र के तट की एक सीमा है, उसका अन्त अदृश्य के गर्भ में नहीं है। उसका विस्तार अपरिमित है। इससे इनके लुप्त धर्म एक-से नहीं होंगे। अतः धूलि-कण के लिये भिन्न-भिन्न धर्म मानने होंगे। एक धर्म के लिये भिन्न धर्म के उपमानों का लाना उपमेय की जटिलता का कारण हो जाता है।

धूलि-कण वामन की माँग-सा अनन्त नहीं है। वामन ने तो तीन पग भूमि ही माँगी थी। इसमें अनन्तता कहाँ है? हाँ, जब वामन ने अपने पैर आकाश-पाताल में फैलाये तब इसको अनन्त कहा जा सकता है, माँग अनन्त नहीं। लक्षणा से थोड़ा काम लिया जा सकता है। उसी धूलि-कण में भूख की पुकार की दुरन्तता लायी गयी है। भूख की पुकार को, जो दुरन्त कहा गया है उसका अर्थ प्रबल ही लिया जा सकता है। भूख की पुकार मर्मबेधक होती है। उसमें दुरन्त का अर्थ विस्तृत या व्यापक कैसे कोई करेगा? यह योजना पूर्व की योजनाओं से विपरीत जाती है। ऐसे भिन्नधर्म उपमान अपने उपमेय को पाठकों की भावभूमि से दूर कर देते हैं।

मिट्टी के पुतले छू जिसके हाथों से ऐसी चमक उठे।
कीचड़ में पड़े घिनौने घोंघों में नव मोती दमक उठे ॥ केसरी

इसमें गांधी जी की महिमा का वर्णन है। जिसके करस्पर्श से मिट्टी के पुतले मनुष्य चमक उठते हैं। अर्थात् प्रसिद्ध, मान्य वा आदरणीय हो उठते हैं। यहाँ मिट्टी के पुतलों ही में चमक पैदा हो जाने की बात है। यथार्थतः मनुष्य वाचक अर्थ में मिट्टी का पुतला नहीं है और न उसमें चमक ही पैदा हो जाती है। दोनों ही लाक्षणिक अर्थ लिये गये हैं। इसके लिये जो अप्रस्तुतयोजना या उपमान लाया गया है वह कीचड़ में पड़े घिनौने घोंघे है। मिट्टी के पुतलों के लिये कीचड़ में पड़े और घिनौने जैसी कोई बात नहीं कही गयी है। साधारणतः मनुष्य घिनौना नहीं होता। इस विषय में इनका कोई साम्य नहीं है। इसमें जाति, प्रमाण तथा धर्मगत न्यूनता है। उपमेय मिट्टी के पुतले ही वहाँ दमकते हैं पर यहाँ दमकते हैं मोती। वहाँ एक ही और यहाँ दो वस्तुयें हो जाती हैं। सामुद्रिक घोंघों में मोती होते हों पर सीपी से मोती पैदा होने की बात ही कविसम्प्रदाय में आदरणीय है। यहाँ की साम्ययोजना सराहनीय नहीं कही जा सकती।

काव्यमर्मज्ञों के लिये इतना ही पर्याप्त है। सब जगह उनकी सहृदयता ही ऐसे विवेचन में सहायक होगी।

तेरहवाँ रंग—उपमा का कुछ और विचार

उपमा का जितना ही विचार किया जायगा उतने ही उसके गुण-दोष सामने आवेंगे। जितना ही दोषत्याग और गुणग्रहण किया जायगा उतना ही उसका सादृश्य-सौन्दर्य निखरता जायगा। किन्तु क्या पुराने और क्या नये, सभी उपेक्षा-भाव से अप्रस्तुतों की योजना करते दीख पड़ते हैं।

जब कवि कहता है—'यह मदिरा सी तरल जुन्हाई छाई' तब इसमें जुन्हाई को जो मदिरा सी तरल कहा गया है वह जुन्हाई की कोई विशेषता सामने नहीं लाता। क्योंकि जुन्हाई सदा एकरूप है जिसे ठोस या तरल कुछ भी कहा नहीं जा सकता। तरलता जल की ही सुप्रसिद्ध है और मदिरा की मादकता। मदिरा रंगीन भी होती है। यदि इसमें तरल न कहकर मादक धर्म कहा जाता तो चाँदनी का उद्दीपन भाव सामने आ जाता।

यही कवि जब यह कहता है 'किसी रूपसी सुरबाला के तन की आभा सी यह छाई' तब उसकी इस अप्रस्तुतयोजना से उसकी सहृदयता झलक

उठती है। रूपसी सुरबाला की आभा उज्ज्वल होती ही है जिससे चाँदनी का विशद सौन्दर्य प्रत्यक्ष हो जाता है। इनकी सादृश्ययोजना मोहक है। ऐसी योजना सराहनीय ही नहीं, सहृदयाह्लादक भी होती है।

वे किसान की नयी बहू की आँखें
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बंद कर पाँख।

आँखों के उपमानों में कंज, खंजन आदि सौन्दर्य, चंचलता आदि गुणों के कारण सामने लाये गये हैं पर पंख समेटे विहग को आँख का उपमान बना डालना निरालापन ही है। क्योंकि किसी गुण से इसका साम्य नहीं है। काली बरौनियाँ भी हरीतिमा से कुछ साम्य नहीं रखतीं। हरे घास-पात की बात से किसी अंश में सादृश्य होता पर यहाँ तो हरीतिमा है—हरी वस्तुओं का गुण है। नयी बहू की आँखों में चंचलता नहीं, जैसे कि पंख समेटे पंखी हों पर कौन-से पंखी हैं—गरवैया या गरुड़, इसका कोई आभास नहीं मिलता। जब हम खंजन कहते हैं तब उसकी चंचलता सामने आ जाती है। वैसे विहग कहने से किसी अचंचल पक्षी के चुपचाप रहने की स्वाभाविकता सामने नहीं आती है।

स्याह धब्बों सी निशायें सब विदा हैं,
आज फूलों से सरल आकुल सवेरे
खोह सी गहरी व्यथा की जिन्दगी के
कष्टहत कमजोर घुटने टूटते हैं।

निशा विदा होती है—एक के बाद दूसरी। इससे निशायें का बहुवचन ठीक कहा जा सकता है। पर उपमान धब्बे जहाँ के तहाँ रहते हैं। वे विदा नहीं होते, भले ही फाड़े या जलाये जाने पर विदा नहीं, नष्ट हो जायँ। दूसरी बात यह कि कहाँ निशा और कहाँ धब्बे! धब्बे विश्वव्यापिनी काली निशा की अपेक्षा बहुत ही न्यून हैं, उसके महत्त्व को नष्ट करनेवाले हैं। निशा का कालापन तो स्वतः स्पष्ट है, उसको काला बनाने के लिये स्याह धब्बों का उपमान लाया गया है। यहाँ की उपमा काव्य को कुछ भी उत्कृष्ट बनाने में सर्वथा असमर्थ है।

पल पल परिवर्द्धित पावक सा उत्साह लिये,
धन्वा से छूटे हुए बाण के ही समान उद्धत उन्मुख।

'पावक सा उत्साह' में लक्षणा से उत्साह की तीक्ष्णता व्यक्त होती है, उसकी नाशकारक शक्ति भी मानी जा सकती है पर उत्साह का प्रयोग असंभव

को संभव करने, अनहोनी को होनी बनाने और शक्ति से अधिक कार्य करने में ही होता आया है। उत्साह को नहीं, क्रोध को अग्नि का उपमान दिया जाता है।

ऐसे ही तीर की अप्रस्तुतयोजना तीक्ष्णता और तीव्र गति के लिये ही की जाती है। अधिकतर ऐसा ही इनका उपयोग दीख पड़ता है। किसी का औद्धत्य और उन्मुखता दिखाने के लिये ऐसी योजना समर्थ नहीं कही जा सकती। इनका यह साधर्म्य नहीं है। बलात् इनका साधर्म्य माना जाय तो सहृदयता को झख मारने के सिवा और क्या कहा जा सकता है ? यदि वह उन्मुख है तो सम्मुख भी हो सकता है। यह तो चालक की कृपा हुई। यह तीर का धर्म कहाँ रहा ! तीक्ष्णता या क्षिप्रकारिता में ऐसी बात नहीं कही जाती। वह उन्मुख, सम्मुख, अधोमुख या कोई मुख हो। अतः तीर का यह मनमाना साधर्म्य नहीं माना जा सकता।

भैरव के मन्द्र स्वरों की पहली कंपन सा
वे सात पहरुये उतर गये हैं पश्चिम में।

इसमें सात पहरुये—शायद सप्तर्षि—सात तारे उपमेय के लिये पहली कंपन सा उपमान लाया गया है। पहरुये पुलिंग बहुवचन उपमेय है। पर उपमान एकवचन स्त्रीलिंग है। यहाँ सा के स्थान पर 'से' होना चाहिये। क्योंकि यह विशेषण का काम देता है। पहरुये सात हैं। यह दोष तो है ही। बाहरी साम्य भी कुछ नहीं है। स्वरों की कंपन बाहर होती है और उसमें वृद्धि भी होती जाती है। पर पहरुओं का अधःपात ही होता जाता है। अतः कोई साधर्म्य नहीं। कंपन में जो लोच-लचक है, वह अधःपात में नहीं है। कहना यह कि कुछ भी इनमें गुणसाम्य नहीं है। स्वर का कंपन मात्र है, निकला है कि नहीं, भगवान ही जानें। पहरुये तो उतरते ही नहीं, उतर गये हैं। इस विषय में भी इनका साम्य नहीं। कंपन और उतरना इनमें साम्य की जो धुंधली रेखा है उसीको पकड़कर कवि ने बस साम्ययोजना कर दी है जो काव्य की श्रीवृद्धि में नाममात्र को भी सहायक नहीं है।

ऐसी उपमायें न तो कला में और न रस में ही श्रीवृद्धि करती हैं जिनके लिये इनकी योजना की जाती है।

चौदहवाँ रंग—विपरीत उपमा

प्राचीन परम्परा से ही कवियों ने विरोधी उपमानों को तुलनात्मक रूप से लाकर अपने मनोभावों को व्यक्त करने में कला प्रदर्शित की है। इससे उसके अनेक आलंकारिक रूप हमारे सामने आ जाते हैं।

प्रभुजी, तुम चन्दन हम पानी।

अर्थात् तुम चन्दन के समान हो और मैं पानी के समान हूँ।

इसमें चन्दन और पानी से भगवान और भक्त की तुलना की गयी है। इसका भाव यह है कि तुम हमको अपने में घुला-मिला लो। चंदन की सार्थकता इसीमें है। यह भी कहा जा सकता है कि हमारे अपनाने में ही तुम्हारा महत्त्व है, गौरव है। यह भी कहना सत्य है कि चन्दन जैसे घिस-घिसकर पानी को एकाकार कर देता है वैसे ही भक्तों के कारण भगवान दुःख भी उठाकर भक्त को अपना लेते हैं।

एक दूसरा भक्त कहता है कि—

तुम हो गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ।

अर्थात् तुम आकाश जैसा हो और मैं तारा जैसा हूँ।

इसमें भक्त भगवान को विस्तीर्ण गगन बताकर अपने को उसमें का एक क्षुद्र तारा बताता है अर्थात् तुम्हारी तुलना में मैं कुछ भी नहीं हूँ। पर तुम्हारा ही एक अंग हूँ, तुमसे अलग नहीं हो सकता। इस रूप में हम-तुम एक जैसे हैं।

यहाँ यह आलंकारिक शास्त्रार्थ उठ सकता है कि इसमें रूपक है या उपमा। तुम हम की तुलना से उपमा कही जा सकती है। रूपक रूप में विरोधी तुलना कहने में भी कोई आपत्ति नहीं, पर उपमा कहना अधिक संगत प्रतीत होता है।

तुम मृदु मानस के भाव और मैं मनोरंजिनी भाषा,
तुम नन्दन-घन-विटप और मैं सुख शीतल तरु शाखा।
तुम प्राण और मैं काया, तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म,
मैं मनोमोहनी माया। निराला

यद्यपि इस कविता में तुलनात्मक विरोध है, पर एक दूसरे से प्रायः घुले-मिले हैं। भाषा भाव से पृथक् रह नहीं सकती। ब्रह्म भी माया में लिपटा है। तुम भाव जैसे हो और मैं भाषा जैसी हूँ। विरोध ही क्यों न हो, मैं तुम जैसी ही हूँ। हमारी तुम्हारी समता है।

"रह-रहकर लीला का रूप उसके सामने साफ हो जाता और फिर रमा का यौवन से भरा हुआ मुखड़ा खिल-खिला पड़ता। लीला वसन्त की मन्द बयार थी तो रमा बंगाल की खाड़ी को मथकर उठनेवाली आँधी, साइक्लोन। लीला यदि चाँद के बगल में चमकनेवाली नन्हीं निर्दोष तारिका थी तो रमा भूकम्प उत्पन्न करनेवाली भयानक उल्का। लीला यदि सागर के रहस्यमय अन्धकारपूर्ण नभ में रहनेवाला छोटा-सा मोती थी तो रमा उत्कट प्रभापूर्ण सूर्यकान्त मणि! लीला यदि प्रथम यौवन के मधुर सिहरन थी तो रमा पूरे पतझड़ की निर्मम शोभा! लीला यदि मरुभूमि की अनन्त बालुका-राशि में से फूट पड़नेवाली पतली मीठी जलधारा थी तो रमा हिमालय की चोटी पर से वज्रनिनाद करके धरातल की छाती फोड़नेवाली दुर्दान्त महानदी। लीला यदि मीठी खुमारी थी तो रमा घोर विष की कभी न मिटनेवाली चिर मूर्च्छा।" वियोगी

इसमें दो नायिकाओं के रूप, गुण, शील आदि की तुलना है। इनकी तुलना में आकाश-पाताल का अन्तर कहा जा सकता है पर दोनों ही नारी हैं, दोनों ही प्रेमिकायें हैं, दोनों अपने एकमात्र प्रेमी की मंगल-कामना करती हैं। दोनों के प्रति प्रेमी का स्वाभाविक आकर्षण है और वह दोनों में से किसी को छोड़ना नहीं चाहता। इनकी तुलना के मूल में ये ही तत्त्व हैं और इनके उपमानोपमेय भाव हैं। यद्यपि इन दोनों में एक दूसरे की विरोधिनी प्रतीत होती है पर हैं एक दूसरे के समान ही।

हम मिले,
मुझे मालूम हुआ—तुम चिड़िया हो,
चल पंख तुम्हारे आतुर,
उड़ने को आकाशों की गहराई में!
कलकण्ठ तुम्हारा वेकल,
गाने को जीवन के मादक गाने!
अनजाने, मंडल में जाने को
हृदय तुम्हारा विह्वल!
और मैं खड़ा हूँ कि जिसके बाल
कि जिसके पंख, समय ने तोड़ दिये;
झकझोर दिये;
जो बेवश और असहाय!
कहाँ उड़ जाय? भला क्या गाय? अश्क

इस कविता में दो चिड़ियों की अपनी-अपनी अवस्था का चित्रण है। दोनों की तुलना का रूप विरोधी है। किन्तु दोनों चिड़िया हैं, 'दोनों के रंग-रूप एक, भावभंगी एक। इनमें केवल जवानी और बुढ़ापे का अन्तर है। अन्यान्य उदाहरणों में उपमेय और उपमान में भिन्नता रहती है पर इसमें दोनों सजातीय हैं और इनकी एक से दूसरे की तुलना अनेकांशों में की जा सकती है। वह उपमानोपमेय भाव से शून्य नहीं कही जा सकती।

ऐसी भिन्न-भिन्न रूपों में विरोधात्मक तुलनाओं से काव्यात्मा का पोषण होता है, उसमें चमत्कार आता है।

पंद्रहवाँ रंग—प्रतिद्वन्द्वात्मक उपमा

इस उपमा का एक दूसरा प्रकार भी होता है। इसमें उपमेय और उपमान एक रूप का भी होता है और विभिन्न रूप का भी। इनकी अभिव्यक्ति बड़े सुन्दर ढंग से होती है।

कोयल की वह कोमल बोल, मधुकर की वीणा अनमोल।
कह, तब तेरे ही प्रिय स्वर से कैसे भर लूँ सजनि! श्रवण।
भूल अभी से इस जग को ? पंत

सजनी का स्वर भी मोहक है, कोयल का बोल भी और मधुकर का गुंजार भी। कवि नहीं चाहता कि वह अपने श्रवण को सजनी के स्वर से भर ले। उसके सामने विस्तृत जगत् है, प्रकृति अपने प्राकृत विभूति से भरी हुई है। उसमें श्रवणीय पदार्थों की कमी ही क्या है, जो नारी के स्वर में फँस जाय? वह तीनों में अन्तर नहीं समझता, एकरूपता ही पाता है पर जगत् का मोह उससे नहीं छूटता।

देखूँ हिम हीरक हँसते हिलते नीले कमलों पर।
या मुरझाई पलकों से झरते आँसू कण देखूँ। महादेवी

आँखें नील कमल के समान हैं और आँसू हँसते हिमहीरक जैसे। दोनों में इस प्रकार उपमानोपमेय भाव है। कवि की एक दृष्टि उधर है और एक दृष्टि इधर। यहाँ कवि ने दोनों की तुलना को ही लक्ष्य में रक्खा है। दोनों के चित्र एक से हैं पर रंगों और रेखाओं में अन्तर है। एक ओर प्रकृति का हँसता-खेलता चित्र है तो दूसरी ओर वेदनापूर्ण करुण चित्र। किन्तु बाह्य रूप से कोई अन्तर नहीं।

विरोधमूलक साम्य की ऐसी सुकुमार भावनायें कलाकृति को पराकाष्ठा को पहुँचा देती हैं।

ऊषा सस्मित किसलयदल, सुधारश्मि से उतरा जल,
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन?
भूल अभी से इस जग को। पंत

कवि के जी बहलाने के दो दृश्य सामने उपस्थित हैं। दोनों ही मधुर, कोमल, कान्त और लोभनीय हैं। किसलय दल-से अधर हैं। उधर उषा की स्मिति है तो इधर साक्षात् स्मिति है। इनकी समानता इन विषयों में है। किन्तु ओसबिंदु-सा अधरामृत प्रत्यक्ष का विषय नहीं, अनुभवनीय है। यहाँ नाममात्र का ही विरोध है। एक लोचनोपभोग्य है और दूसरा अधरोपभोग्य।

तेरे असीम आँगन की देखूँ जगमग दीवाली
या इस निर्जन कोने में बुझते दीपक को देखूँ। महादेवी

यहाँ देखने को दो विरोधी वस्तुयें हैं। एक ओर तो असीम आँगन की जगमगाती दीवाली है और दूसरी ओर निर्जन कोने में बुझता हुआ दीपक। इसमें दीपक का कुछ साम्य है। एक ओर एक ही दीपक है और दूसरी ओर अनन्त आकाश में अमिट तारे। दोनों में प्रकाश है और दोनों अंधकार दूर करने की शक्ति रखते हैं। यह लिखते हुए कवि की दृष्टि में सांसारिक सुख-दुःख, आशा-निराशा; अमीरी-गरीबी, आलोक-अंधकार, अपेक्षा-उपेक्षा, उन्नति-अवनति, विकाश-ह्रास, उत्थान-पतन के प्रदर्शन का भी भाव है। कवि असमंजस में है कि हमारा झुकाव किस ओर होना उचित है। हमें आगे बढ़कर दीपक को स्नेहदान देकर समुज्ज्वल बनाना चाहिये—गरीबों को साहाय्य देकर आगे बढ़ाना चाहिये या धनिकों की गतिमति में ही मिल जाना चाहिये। इस पद्य की भाव-भङ्गी—व्यंजना इतनी व्यापक है कि इसकी व्याख्या का अन्त ही नहीं हो सकता। इस विरोध में भी तुलना का भाव भरपूर है।

मदमत्त बना देती पल भर जिसके पगपायल की रुनझुन।
या खून पसीना कर कर अपना जो बाँट रहा जग को जीवन।
अभिमान करूँ भी तो किसका? सुमन

कवि ने उपर्युक्त पद्य के व्यंजित भाव को इसमें कुछ स्पष्ट कर दिया है। अभिमान करने की दोनों वस्तुयें हैं पर कवि के हृदय का झुकाव किसान

की ओर ही है। यहाँ जो से किसान ही उक्त है। क्योंकि खून-पसीना करने-वाला मजदूर किसान-सा जीवनदायक नहीं होता। रुनझुन को पल भर ही के लिये मदमस्त बनानेवाली कहा गया है और किसान को जीवनदाता कहा गया है। एक क्षणिक है तो दूसरा दीर्घकालिक। रुनझुन पवित बनाने-वाली है तो दूसरा उन्नत बनानेवाला। यहाँ की तुलना में विरोध है पर जीवन में दोनों अपेक्षित हैं। नहीं तो कवि इन्हें तुलना के लिये सामने नहीं लाता। इस प्रकार अन्तरंग में इन दोनों का उपमानोपमेय भाव है।

इस प्रकार की अभिव्यक्तियों में सर्वत्र ऐसे विरोध भाव ही नहीं लक्षित होते, अपितु समता भी लक्षित होती है।

सोलहवाँ रंग—तुलनात्मक उपमा

वहाँ पूर्णोपमा का रूप देखा जाता है जहाँ बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से तुलना का रूप दिया जाता है। इसमें साधारण पूर्णोपमा का, जिसमें उपमेय, उपमान, वाचक और साधारण धर्म रहते हैं, उल्लेख पाया जाता है। उपमा का यह ढंग निराला ही है।

चपला इधर उधर नवलायें इधर इन्द्रधनु चित्र उधर,
इधर मधुर गर्जन मृदंग का, नाद गान की मित्र उधर।
इधर विमल जल उधर रत्नमय भूमि, तुंग तो उभय विशाल
अलका के प्रासाद करेंगे यों तेरी तुलना तत काल[1]।

केशव प्रसाद मिश्र

इस अनुवाद से स्पष्ट है कि अलका के प्रासाद अपनी उन-उन विशेषताओं से मेघों की तुलना करने में सर्वथा समर्थ हैं। इनमें समान रूप

---

१. विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुव स्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः। मेघदूत

से वर्णित वस्तुयें विद्यमान हैं। अब हिन्दी के प्राचीन कवियों की तुलनात्मक उपमायें देखें।

जुगुनू उतै हैं, इतै जोति है जवाहर की
झिल्ली झनकार उतै, इतै घूँघुरू लरैं।
कहै कवि तोष उतै चाप, इतै बंक भौंह
उतै बकपंक्ति, इतै मोतीमाल ही धरैं।
धुनि सुनि उतै सिखि नाच, सखि नाँचैं इतै
पी करे पपीहा उतै, इतै प्यारी सी करै।
होड़ सी परी है मानो घन घनश्याम जू सों
दामिनी को कामिनी को दोऊ अंक में धरैं॥

मेघदूत का ही रंग-ढंग है पर वहाँ तुलना की बात स्पष्ट है और यहाँ मानो ने उसमें कुछ अड़चन सी डाल दी है। पर बात तुलना की ही है। दोनों में तुलना है और बिंब-प्रतिबिंब भाव भी। घनश्याम और श्यामघन में जो बराबरी की बातें दीख पड़ती हैं उन्हीं पर यह कवि की उत्प्रेक्षा है कि जैसे दोनों एक दूसरे से बढ़ जाने की बदाबदी किये हुए हों। यहाँ मुख्यता उपमा की ही है। कामिनी और दामिनी को अंक में धरने की बात यद्यपि सबसे पीछे की है पर बड़ी सुन्दर है। एक ऐसा ही सवैया भी है।

उत श्याम घटा, इत हैं अलकैं, बक पाँति उतै इत मोती लड़ी।
उत दामिनी दंत चमंक इतै, उत चाप इतै भ्रुव बंक धरी।
उत चातक तो पिउ पीऊ रटैं बिसरैं न इतै पिउ एक घरी।
उत बूँद अखंड इतै अँसुवा बरसा बिरहीन सो होड़ परी॥

पहले में प्रासाद—महल, दूसरे में नायक और तीसरे में विरहिणी वर्णनीय विषय हैं, पर तीनों में तुलना के लिये मेघ ही आये हैं। एक में 'बरसा' का प्रयोग है पर वह भी मेघ ही का द्योतक है। जब बूँदें हैं तो घन से ही गिरते होंगे। विषय भिन्न हो जाने से कुछ विशेष बातों की योजनायें कर दी गयी हैं।

वे धरें अंग अनंग के भूषण ये हू भुजंग रहैं हिय धारे।
वे धरें चन्द्र सँवारि के भाल में येऊ नखच्छत चन्द्र सँवारे।
शंभु की औ कुच की समता कवि कोविद भेद इतोई विचारे।
शंभु सकोप है जारयो मनोज उरोज मनोज जगावन हारे।

इसमें भी तुलनात्मक समता है। कवि के विभेद की बात से व्यतिरेक को प्रश्रय मिलता है, पर भेद एक ही बात में है और समता दो बातों में। विषमता से समानता अधिक है। एक बात और। भेद दिखाने में भी उपमा का भाव छिपा रहता है।

ऊपर के दोनों पद्य मेघदूत के भाव पर ही बने हैं। क्योंकि उन कवियों ने अपने को मेघ से नहीं छुड़ाया। पर इनके रूप भिन्न हैं और उनमें एक प्रकार के अन्य चमत्कार भी हैं। ऐसी तुलनात्मक उपमायें सुन्दर होती हैं।

नयी कविताओं में तुलना का एक नया रूप देखा जाता है, पर उसे तुलना कहना ठीक नहीं। क्योंकि उसमें दोनों के दो रूप देखे जाते हैं। इनके अन्तरंग में पैठने से ऐसा प्रतीत होता है कि एक कारण रूप से है और दूसरा कार्य रूप से।

तुम तुंग हिमालय शृङ्ग और मैं चंचल गति सुरसरिता,
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कान्त कामिनी कविता।

निराला

इसमें मैं और तुम इसी रूप में आये हैं। हिमालय से सुरसरिता का और हृदयोच्छ्वास से कविता का आविर्भाव होता ही है। ऐसे स्थानों में एकरूपता की ध्वनि होती है।

इस प्रकार तुलना के अनेकों प्रकार दीख पड़ते हैं पर उपमा वहीं अपना रूप प्रकट करती है जहाँ तुलना का सादृश्य वा साधर्म्य रहता है।

सत्रहवाँ रंग—मिश्रामिश्र उपमा

उपमा का एक रूप सरल होता है जिसे अमिश्र (Simple) कह सकते हैं। यह कवि सामान्य के लिये सुलभ है। पर उपमा का दूसरा रूप जटिल होता है जिसे मिश्र (Complex) कहा जा सकता है। मिश्र उपमा का स्वरूप प्रायः रूपक, संकर, संसृष्टि आदि में पाया जाता है। ऐसी उपमाओं का प्रयोग विशिष्ट कवि वा महाकवि के लिये ही सुलभ हो सकता है। इनका व्यवहार बहुत बड़ी क्षमता वा शक्ति का परिचायक होता है। प्रतिभाशाली कवियों को इनके लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसमें समास बड़ा ही सहायक होता है और कवि की शक्ति को प्रकट करता है। उपमा ज्यों-ज्यों सरल से मिश्र होती जायगी त्यों-त्यों भाषा भी मिश्र और गम्भीर होती जायगी।

सखि वसन्त से कहाँ गये वे
मैं ऊष्मा सी यहाँ रही। गुप्तजी

सुखदायक वसन्त होता है और ऊष्मा दुखदायिनी। बुद्ध का जाना वसन्त सा है और यशोधरा वैसी ही घर रह जाती है जैसी ऊष्मा हो। उपमायें चमत्कारक हैं, पर सरल हैं।

उसके पीछे परछाईं सी
वह फिरती है प्रतिपल।

यह सरल से सरल उपमा है, पर वह अपने में पूर्ण और सार्थक है।

मेरा अन्तर वज्रकठोर देना जी भरसक झकझोर,
मेरे दुख का गहन अन्धतम निशि का न कभी हो भोर;
क्या होगी इतनी उज्ज्वलता—इतना वन्दन-अभिनन्दन !
जीवन चिरकालिक क्रन्दन ! निराला

इसमें एक वज्रकठोर उपमान है। इसका पूर्ण रूप दिया जाय तो ऐसा होगा—*मेरा अन्तर वज्र-सा कठोर है।* केवल वाचक का लोप है। इसमें अन्तर को कठोर भी कहा जा सकता है और वज्र भी। लक्षणा से अन्तर की अधिक कठोरता प्रतीत होती है। ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि मेरा अन्तर कठोर वज्र है। यह शंका न करें कि वज्र तो कठोर होता ही है फिर उसे कठोर वज्र कहना ठीक नहीं। पर उपमा में धर्म का उल्लेख किया जाता है। यह उपमा अन्तर में कठोरता और वह वज्र की कठोरता दोनों की प्रतीति करावेगी। वज्रकठोर को समस्त मानें या असमस्त। दोनों अवस्थाओं में ऐसे अर्थ किये जा सकते हैं और सरल उपमा में ही इसकी भी गणना की जा सकती है।

जहाँ वाचक शब्द रहता है और समान धर्म में शब्द का प्रयोग होता है वहाँ ही ऐसी कल्पना की जा सकती है। जहाँ क्रिया रूप में धर्म उक्त होता है वहाँ ऐसा सम्भव नहीं।

नीलोत्पल के बीच सजाये
मोती से आँसू के बूँद। प्रसाद

इसमें सजाना ही समान धर्म है। कोई गुण-वाचक शब्द नहीं।

उक्त उदाहरण में 'दुःख के गहन अन्धतम निशि' में प्रत्यक्ष रूप से रूपक अलंकार है पर इसमें दो उपमायें मिश्रित हैं। पहले वो गहन अन्धतम से

निशि की तुलना की गयी है और साथ ही निशि की समता रूपक के रूप में दुःख से है ही। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि औरों के दुःख भी ऐसे हो सकते हैं जिनके अन्त का पाना कठिन है।

खर बाण-धारा-रूप जिसकी प्रज्वलित ज्वाला हुई
जो वैरियों के व्यूह को अत्यन्त विकराला हुई। गुप्तजी

इसमें बाण की धारा से पहले तुलना की गयी है। धारा का अविरल प्रवाह जैसा होता है वैसा ही बाण का अविरल वर्षण है। ज्वाला भी नाशक होती है और बाण-वर्षा भी। इस प्रकार दोहरी समता का निदर्शन है। रूपक अलंकार प्रत्यक्ष है पर उपमा नहीं। किन्तु उपमा का जो प्राण धर्म समता है वह छिपायी नहीं जा सकती। इससे समझें—

वीरो, बढ़ कर शस्त्र उठाओ।
दुखसागर को दूर हटाओ।

यहाँ दुःख की तुलना सागर से है। जलधि-जैसा दुःख भी विशाल है। इसमें शत्रुसेना के लिये यह दुख-सागर शब्द आया है। पहले तो दुखसागर (शत्रु-सेना) में समुद्र के साथ दुःख की तुलना की गयी है। फिर दूर हटाने के लिये शस्त्र धारण की बात कही गयी है। पहले तो इसमें रूपकालंकार है और सेना के स्थान में इसके होने से रूपकातिशयोक्ति। पर दोनों में तुलना की बात भूलने लायक नहीं है। फिर हम इसमें दोहरी वा मिश्र उपमा की बातें क्यों न कहें?

यहाँ संस्कृत का एक उदाहरण अप्रासंगिक वा अनावश्यक न समझा जायगा।

अयं शैलाघात - क्षुभित - वड़वावक्त्रहुतभुक्
प्रचण्ड - क्रोधार्चिर्निचय - कवलत्वं व्रजतु मे।
समन्तादुत्सर्पन् घनतुमुल - सेना - कलकलः
पयोराशेरोघः प्रलय-पवन - स्फूर्जित इव। उ० रा०

प्रलय-पवन से आलोड़ित सागर-जल-प्रवाह के समान चारों ओर फैलता हुआ सेना का घन तुमुल कोलाहल, पर्वत के आघात से क्षुब्ध बड़वानल के समान मेरी क्रोधाग्निराशि का कौर हो जायगा।

इसमें प्रलयपवन और सागर-जल-प्रवाह को मिलाइये। एक को दूसरे के कारण रूप में न देखिये। प्रलय-पवन की प्रचंडता को सामने रखिये। फिर बड़वानल से क्रोधाग्नि-राशि की तुलना कीजिये। दो उपमायें भासित

होगीं। पुनः प्रलय-पवन तथा सागर-जल-प्रवाह को उपमानोपमेय भाव से रखिये और तुमुल कोलाहल से तुलना कीजिये। इस प्रकार इसमें आपको मिश्र उपमायें मालूम होगीं।

जब हम कहते हैं कि उसका स्पर्श चन्दन-सा शीतल है तो यह स्पर्श की एक सरल उपमा है। पर जब हम यह कहते हैं कि उसका स्पर्श सुधासिक्त चन्दन रस है तो यह मिश्र उपमा हो जाती है। इसमें पहले स्पर्श की चन्दन-रस के साथ तुलना है और पीछे सुधा के माधुर्य के साथ तुलना है।

मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानों चुमने को मुझको। प्रसाद

इसमें 'अलकावली समान लहरें' की उपमा उनकी गहनता और नीलिमा को तो बताती ही है, उनकी कुटिलता तथा वक्रता को भी बताती है। क्योंकि अलकावली लहरीली है। यह मिश्रोपमा अतुलनीय है।

अरुण कलियों से कोमल घाव। पंत

'घाव' लाक्षणिक-रूप में अप्रस्तुत है। कसकती स्मृति के लिये यह लाया गया है। आकार तथा वर्ण के सादृश्य से और फिर कोमलता के साधर्म्य से घाव को कली की उपमा दी गयी है। घाव लाल है और कली के आकार का है। कहने का अभिप्राय यही है कि स्मृतियाँ रंगीन हैं और सुकुमार हैं। इस प्रकार प्रस्तुत के लिये अप्रस्तुत लाने से मिश्र उपमा हो गयी है।

अरुण अधरों का पल्लव प्रात,
मोतियों सा हिलता हिम हास। पंत

पल्लव का सा अरुण प्रात फिर पल्लव प्रात से अरुण अधर हैं। समस्त पंक्ति में रूपक है। पहले तो हिम जैसा स्वच्छ हास है। पुनः वह मोतियों सा है। इस प्रकार उपमान एक में दूसरे से उलझे हुए हैं। अनोखी मिश्र उपमायें हैं।

वे नीलम के मेघ नहीं जिनको है घुल जाने की चाह। महादेवी

इसमें एक तो नीलम के ऐसा मेघ उपमा है और दूसरा मेघ जैसे वे। यहाँ दो मिश्र उपमायें हैं।

अठारहवाँ रंग—संकेतोपमा

उपमा के सम्बन्ध में पाश्चात्यों का कुछ विचार ऐसा है कि उपमा की उतनी बारीकियों में पैठने की आवश्यकता नहीं। उपमा का संकेतमात्र ही पर्याप्त है। उपमानों और उपमेयों को घुले-मिले रहने में ही उनकी महत्ता है। उपमानों और उपमेयों का संतुलन प्रकृष्ट पंथा नहीं है। उपमान का संकेतमात्र कर देना और शेष पाठकों की कल्पना पर छोड़ देना चाहिये।

यह प्रणाली शेक्सपियर की मानी जाती है और उनकी ग्रन्थावली इसका उदाहरण है। शेक्सपीयर की भाषा ऐसी ही उपमाओं की भाषा कही जाती है जिसमें उपमाओं और उपमानों के सम्मिलित रूप प्राप्त होते हैं। पाश्चात्य प्रणाली में इसका जो भाव समझा जाता है और तदनुकूल जो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं, उनसे हिन्दी के उदाहरणों से मेल नहीं खाता। क्योंकि उपमा के ऐसे अनेक उदाहरण औपम्यमूल अन्य अलंकारों में चले जाते हैं, कुछ लक्षणा के और कुछ अलंकारध्वनि के अन्तर्गत हो जाते हैं। फिर भी इस भाव के चुने हुए कुछ उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं जो प्रसाद की एक कविता से संगृहीत हैं। इनमें औपम्यमूल अलंकार आदि से बचने की चेष्टा की गयी है।

> चाँदनी के अंचल में
> हरा भरा पुलिन अलस नींद ले रहा।

पुलिन का अलस नींद लेना यह अर्थ बतलाता है कि आलसी जैसे बैठा-बैठा नींद लेता है वैसे ही यह पुलिन भी सुप्तावस्था में पड़ा हुआ है। भाव यह कि मधुयामिनी में सरिता का पुलिन शान्त था।

> क्रोध सुल्तान का दग्ध करने लगा
> दावानल बनकर
> हरा भरा कानन प्रफुल्ल गुजरात का।

दावानल जैसे जंगल को जलाता है वैसे ही सुल्तान के क्रोध से हरा-भरा गुजरात का प्रफुल्ल कानन नष्ट होने लगा।

> आज सोचती हूँ जैसे पद्मिनी थी कहती
> 'अनुकरण कर मेरा
> समझ सकी न मैं"

अर्थात् नारीमर्यादा के भंग होने के भय से जैसे मैं जल-मरी थी वैसे तू भी जल मर।

जान सकी मैं न और तब से
यह रंग महल बना सुवर्णपींजड़ा।

अर्थात् सुवर्णपिंजर में बद्ध होकर स्वतन्त्र चिड़ियाँ जैसे परवश हो जाती हैं वैसे ही सम्पत्ति में सना यह रंगमहल पिंजर सा हमारी परवशता का कारण हो गया है।

अन्त किया छल से काफूर ने,
अलाउद्दीन का मुमुर्षु सुल्तान का

सुल्तान का काफूर द्वारा मारा जाना वैसा ही था जैसा एक मुमुर्षु का मारा जाना।

इस दृष्टि से देखने पर प्रसाद जैसे कवियों की भाषा उपमा की भाषा कही जा सकती है। नवीन कवियों की कविताओं में भी ऐसे उदाहरण हैं।

मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत ग्रीव
धैर्यधन गदहा। अज्ञेय

जैसे धैर्य के धनी अर्थात् धीर नर चुपचाप सब कुछ सहता रहता है वैसे गदहा भी चुपचाप सिर झुकाये सब सह रहा था।

इस तरह से ढूँढ़ने पर अनेकों उदाहरण संकेतोपमा के मिल सकते हैं पर उनमें उपमा का ऐश्वर्य प्राप्त नहीं हो सकता जो प्राच्य आलंकारिकों की अलंकार-विवेचना में भरा पड़ा है।

उन्नीसवाँ रंग—नये ढंग की उपमायें

नवीन कवियों ने नवीन ढंग की उपमाओं को भी अपनाया है। कहा नहीं जा सकता कि कहाँ-कहाँ किस-किस ने नये-नये ढंग अपनाये हैं और किस-किस से वे नये ढंग आगे भी अपनाये जायँगे। भला प्रतिभा की कोई कैसे सीमा बाँध सकता है! उदाहरण आपके सामने हैं।

हिनहिनाते अश्व भीतर रूँदते हैं भूमि रह-रह,
और वे साईस बैठे हाँकते हैं जिन्दगी को
सिर्फ भाड़े के लिये ज्यों एक गाड़ी जा रही है। रां० राघव

भाड़े के लिये जैसे गाड़ी चलायी जाती है, भाड़ा कमाने के सिवा गाड़ीवान का कोई दूसरा उद्देश्य नहीं रहता वैसे ही साईस भी अपनी साईसी के पैसे ही से मतलब रक्खे जिंदगी बिता रहे हैं, उसके सुख-दुख या उसके उद्देश्य से कोई मतलब नहीं।

थे यौवन की चढ़ती के दिन आशा उमंग से हृदय भरा।
मैं तो सावन का अन्धा था सब मुझे सूझता हरा-हरा॥ सुमन

सावन के अंधे को हरा ही हरा सूझता है, यह एक लोकोक्ति है। यौवन में आशा-उमंगों से सब कुछ कवि को हरा-ही-हरा—आनन्ददायक और सुखवर्धक ही मालूम होता था। अर्थात् मैं सावन के अंधा जैसा सुख की ही कल्पना करता था।

एक क्षण सोता है संसार व्यथा की ज्यों गठरी दी बाँध।

चोरी होने के भय से पथिक जैसे अपने धन की गठरी बाँध और उसे सिरहाने रखकर निश्चिन्त सो जाता है वैसे ही संसार भी व्यथाओं को भूल एक क्षण सोता है। कहाँ क्या होता है, उसे उसका पता नहीं रहता। इसीके अनुरूप 'घोड़ा बेचकर सोना' भी एक लोकोक्ति है।

यह हँसी तुम्हारे अधरों की पाती न छिपा जिसका क्रंदन,
जैसे सागर का वेष किये फिरता मरु का प्यासा कणकण,
फिर भी सागर मरु दोनों की छाती में हाहाकार सतत। सुमन

पहली पंक्ति उपमेय है और दूसरी उपमान। मरु की चमचमाहट से हँसी की समता है। कण-कण की प्यास क्रन्दन है। फिर भी मरु को समुद्र-वेषधारी बनाने का कारण यह है कि सागर में जैसे सतत हाहाकार है वही मरु में भी है। इन दोनों के उर में हाहाकार-सा ही क्रन्दन भरा हुआ है। इसमें एक उपमान दूसरे उपमान को साथ लिये हृदय के हाहाकार को बड़ा ही प्रभावशाली बना देता है।

वज्र उठा दूर साहस निर्भय हुँकार उठा ज्यों कालपुरुष।
बुझ गयी ज्योति काले बादल सहसा ढँक ले इन्द्रधनुष॥ रां०

बुझी ज्योति के लिये काले बादलों से इन्द्रधनुष के ढँक लेने की उपमा दी गयी है। यहाँ उपमेय का रूप बुझने की क्रिया है और उसके लिये ज्योतिस्वरूप इन्द्रधनुष को ढँकने के लिये बादल लाये गये हैं। यहाँ उपमा का साधारण स्वरूप नहीं है।

सूखे खेत पड़े होते ऊसर को देते हुए चुनौती
उसकी आँखों की कोरों से टपका करतीं नित्य ओरौती। सुमन

जब पानी बरसकर छूटने लगता है तब ओलती के पानी पड़ने में भी कमी आ जाती है, पर ओलती का पानी टपकना देर तक बंद नहीं होता। ओलती चूने के उपमान में नूतनता है, यथार्थता है और सार्थकता भी। इसमें रूप का साम्य है। आँसू बहने के प्राचीन उपमान हैं—

आँखों से बह चली अचानक गंगा-यमुना की धारा !

गंगा-यमुना की धारा के उपमान अश्रु की बहुलता जैसे द्योतित करते हैं वैसे ही साथ-साथ—स्नेह, ममता, करुणा, वात्सल्य आदि के उद्रेक और अतिरेक में—निर्मलता और पवित्रता के भावों की भी व्यंजना करते हैं। एक कवि की उक्ति है—

धारावाही सलिल वहता था दृगों से सभी के
गंगा पद्मा हिम कुधर से ज्यों निराधार छूटीं। अनूप

गंगा-यमुना की धारा की बात को कवियों ने उपर्युक्त भावों के कारण अपना लिया है, पर पद्मा को नहीं। पद्मा के निराधार छूटने में न तो चमत्कार है और न सौन्दर्य। दूसरी बात यह कि आँसू बहानेवालों को हम हिमालय ही कैसे कह सकते हैं ! यदि सभी उच्च और महान थे, उनमें सामान्य व्यक्ति शामिल नहीं थे, तो केवल उनके रोने से शोकोद्वेग का महत्त्व नष्ट हो जाता है। तीसरी बात यह कि अन्य नदियाँ भी तो हिमालय से निकली हैं, उनका निर्वाह उन मनुष्यों के साथ कैसे होगा ! गलने का भी उनमें गुण नहीं है। गंगा-यमुना के उपमान में हिमालय सामने नहीं लाया जाता। ऐसी उपमा-योजना सहृदयों के समादर का पात्र नहीं बनती।

आँखों से सावन-भादो की झड़ी लगने की अप्रस्तुतयोजना पुरानी है। उसका नया रूप देखिये—

आहों में ज्वलित अंगार उर में सिन्धु के शत ज्वार
वाणी में प्रभंजनभार सावन और भादों शून्य
आँखों में रचे अनिमेष गाने को अभी अवशेष। सुमन

लक्षणा से इस अप्रस्तुतयोजना का अर्थ होता है कि शून्य आँखों से अश्रुधारायें ऐसी बहती थीं जैसे सावन-भादो में वर्षा की झड़ी लग जाती है।

नित्य नये-नये रूपों में उपमा अलंकार की अवतारणा की जाती है जिसके उपर्युक्त ये कुछ नमूने सामने लाये गये हैं।

बीसवाँ रंग—उपमा के भिन्न-भिन्न रंग-रूप

उपमा लाने की नयी-नयी प्रवृत्तियाँ वर्तमान कवियों में देखी जाती हैं। इनकी कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। क्योंकि अभिव्यक्ति-कुशल कवि की प्रतिभा का कोई अन्त नहीं पा सकता। नवनवोन्मेषशालिनी—टटकी-टटकी सूझ ही तो प्रतिभा का चमत्कार है।

> त्रुटि पर ज्यों बिजली सी टूटती है सुमित्रा मा
> शत्रु पर त्यों सिंह सा झपटता है लखन लाल। निराला

इसमें साथ-साथ दो उपमान हैं। त्रुटि पर सुमित्रा वैसे ही टूटती है जैसे बिजली और शत्रु पर लखनलाल वैसे ही झपटता है जैसे सिंह। यहाँ बिजली सी सुमित्रा मा का टूट पड़ना भी लखनलाल के झपटना उपमेय का उपमान हो रहा है। दोनों क्रियाओं की क्रिया में एकरूपता है।

> तुमको अन्धकार में देखा, फिर दिन के प्रकाश में देखा
> बिजली चाँद लहर से उसने
> तुमको मिला मिलाकर देखा
> देख देखकर सोच समझ कर और सुधारा और सँवारा। त्रिलोचन

उस शिल्पी ने बिजली, चाँद और लहर से मिला-मिलाकर देखा और सुधार-सँवारा। कहने का भाव यह कि बिजली-सी तुम दीप्तिमयी हो, चाँद-सी सुन्दर हो और लहरों-सी चंचल हो। यह उपमा की एक प्रणाली है। मिलाने की बात से उपमा की ध्वनि यहाँ नहीं होगी।

> लगे जो उपल पद हुए उत्पल ज्ञात,
> कंटक चुभे बने जागरण अवदात। निराला

पत्थर कमल जान पड़े अर्थात् कमल जैसा कोमल ज्ञात होता है वैसा ही पत्थर भी कोमल जान पड़ा। कंटक का चुभना वैसा प्रतीत हुआ जैसा अवदात जागरण होता है। बनना, ज्ञात होना आदि ऐसी क्रियायें हैं जो तुलना प्रकट करती हैं। यहाँ लाक्षणिक अर्थ लें तो भी उपमा बनी ही रहेगी।

> झपट लिपटते होंगे नर पशु लगा पेट की होड़,
> इस युग में मानव कुत्ते का खूब मिला है जोड़। सुमन

पेट की ज्वाला से जलते हुए मनुष्य और कुत्ते की जोड़ी खूब मिली हुई

है। क्योंकि रोटी के टुकड़े पर मनुष्य भी टूट पड़ता है और कुत्ता भी। इस प्रकार मनुष्य कुत्ते के समान है, यह उपमा निकल आती है।

भारत के उर के राजपूत, उड़ गये आज वे देवदूत,
जो रहे शेष, नृपवेश सूत बंदीगण। निराला

भारत के पहले के राजपूत अब राजपूत नहीं रहे। वे देवदूत थे, उड़कर चले गये। आज वे इस दुनियाँ में नहीं रहे। अब जो बचे हुए राजपूत हैं वे नृपवेशी—राजपूत राजा के वेष बनाये हुए बंदीगण हैं। कहना यह है कि राजपूती अब नहीं रही। जो राजपूत हैं वे वैसे ही हैं जैसे राजवेश में बंदीजन होते हैं। भावार्थ यह कि पराधीन और खुशामदी हैं।

पर यह गुनिया समवयस हुई दो ही दिन में इतनी जर्जर
किसने इस हरे भरे उपवन को आज बना डाला ऊसर। सुमन

गरीब गुनिया के बच्चा होते ही उसकी जवानी न जाने कहाँ चली गयी और वह बुढ़िया-सी प्रतीत होने लगी। उसका समवयस्क साथी अभी छैल-छबीला बना हुआ है। अपनी समवयसी की ऐसी दुर्दशा देखकर उसके मुँह से ऐसी साश्चर्य उक्ति निकलनी स्वाभाविक ही है। इससे इसके यौवन को हरा-भरा उपवन और दुर्दशा को ऊसर कहा गया है। यदि पूर्वार्द्ध न रहता तो रूपकातिशयोक्ति में यह चला जाता। आरोप न होने से रूपक भी नहीं है। अभिप्राय यह कि हरा-भरा उपवन जैसा आनन्ददायक और उन्मादकारी होता है वैसा ही उसका यौवन भी मादक और आनन्ददायक था और ऊसर जैसा उद्वेजक और शुष्क होता है वैसा ही असामयिक जर्जर हो जाना है। बना डालना क्रिया उपमा अलंकार को ला देती है।

ऐसे अनेक रंग-रूपों में उपमा सचमुच रंग बदलती हुई काव्य रंगमंच को रंगीन बनाती है।

इक्कीसवाँ रंग—उपमा के अनेक रूप

उपमा में उपमानोपमेय के प्रकाशन के अनेक रूप हैं। ये सब तथा अन्यान्य रूप कलाकार की प्रतिभा और प्रकाशन-प्रणाली पर निर्भर करते हैं। इनसे वर्णनीय अलंकृत तो होता ही है, भाषा का सौन्दर्य भी खिल उठता है। पद्य की अपेक्षा गद्य में इसकी बहुलता दीख पड़ती है। कुछ गद्य उदाहरण दिये जाते हैं।

(१) बनना क्रिया के द्वारा

(क) "मैं अब अनगढ़ ढोंका नहीं रही—हजारों लाखों टाँकियाँ खा चुकने के बाद महादेव बन गयी हूँ।"

इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि महादेव बनने के पूर्व जैसे पत्थर का टुकड़ा अनेक टाँकियों की चोट सहता है वैसे मैं भी अनेकों दुःख-कष्ट उठाकर पूजनीय हो गयी हूँ।

(ख) 'लीला अशेष के लिये चित्र की घटा बनी हुई थी।'

चित्र की घटा से जल नहीं बरसता। उन घटाओं को देख चित्त भले ही शान्त हो जाय पर उससे एक बूँद पाने की आशा करना पागलपन है। वैसे ही अशेष को शान्ति तो मिलती पर सुखप्राप्ति की संभावना नहीं थी।

(ग) 'मन का दरिद्र होना जीवित प्रेत बन जाता है। अभिप्राय यह कि जीवित प्रेत जैसा ही मन का दरिद्री है।

(घ) "अशेष ने उसे बदली बनकर बरसना नहीं सिखाया था बल्कि बिजली बनकर उसे कड़कने की शिक्षा उसने अपने आचरण से दी थी।"

यहाँ भी न बनने और बनने की क्रिया से बादल से अनुपमेय और बिजली के तत्तुल्य होने की बात कही गयी है।

(२) उपमान के विशेषण द्वारा

(क) 'दिमाग पक गया, जहरीले घाव की तरह'।

विशेषण विशेष्य में विशेषता ला देता है। वह कहीं भी हो। पका घाव दुखदायी तो होता ही है, अगर वह जहरीला हुआ तो उसके दुख-दर्द का क्या कहना! इस विशेषण-विशिष्ट उपमान से उपमेय दिमाग की दशा भली भाँति विदित हो जाती है।

(ख) "दयालसिंह के दूत बस्ती के भीतर घुसे, घुसे क्या पिल पड़े मार-मार करते। देखते-देखते शिवनगर के छोटे से प्याले में तूफान बरपा हो गया—बिल्कुल बंगाल की खाड़ी से उठनेवाला साइक्लोन"

तूफान उपमान का भी उपमान साइक्लोन है। पर यथार्थतः यह विशेषण ही है और है तूफान का एक रूप। इस विशेषण से तूफान की तूफानी हरकत बहुत बढ़ी-चढ़ी हो गयी है। उसका एक भीषण रूप प्रकट हो गया है।

(३) मुहावरा और कहावत के रूप में—

(क) "तू वहीं मर क्यों नहीं गया जो अपना काला मुँह दिखाने यहाँ तक चला आया। तू रुई के वंश में आग पैदा हुआ।

रूई के ढेर में पैदा हुई आग जैसे रूई को जला देती है; वैसे ही तू भी अपने उस वंश को नष्ट कर देनेवाला है, कलंकित कर देनेवाला है, जिस वंश में पैदा हुआ है। यह एक मुहावरा है जो उपमान रूप में आया है।

(ख) "देखो लड़का खोज रहा हूँ। एक ही तो लड़की है, गला घोंटकर कुएँ में डालते न बनेगा।"

जैसे-तैसे बिना समझे-बूझे जिस-तिस को लड़की ब्याह देना, गला घोंटकर कुएँ में डाल देने के बराबर है। इसमें भी एक मुहावरा है।

(४) "वे चार-पाँच हजार से कम में बातें भी न करेंगे। मैं बौना आकाशगंगा में हाथ धोने की कल्पना कैसे कर सकता हूँ, भाई।"

छोटे का धनी के यहाँ सम्बन्ध करना कैसा असम्भव है, इसकी योजना बड़ी निराली है।

(५) "कालेज में पढ़ती है और रूप-गुण भी है तब तो तितलौकी तो है ही, नीम पर भी चढ़ी है।"

अब ऐसी अप्रस्तुतयोजना अच्छी नहीं कही जाती। इसमें समता की ही विशेषता है। किन्तु दृष्टान्त की भी झलक है।

(६) "उधर आप को झुकते देख मैं समझती हूँ कि आप मगर के वज्र जबड़े में घुसे जा रहे हैं।"

उधर का आपका झुकाव मगर के वज्र जबड़े में घुसने जैसा मौत का निमन्त्रण देना है।

(७) "सचाई को छिपाना क्या है दहकते अंगार को जेब में रखने का प्रयत्न करना है।"

सचाई को छिपाना और दहकते अंगार को जेब में रखना एक-सा है। दोनों का उपमानोपमेय भाव है।

(८) "यह नवयुवक बारूद का घर है। अगर इसपर कहीं एक चिनगारी भी पड़ी तो प्रलय हो जायगा।

इसमें नवयुवक की बारूद घर से तुलना है। पर उपमान लाने का ढंग निराला है।

बाइसवाँ रंग—उपमा के दोष

उपमा के अनेकों दोष हैं जिनमें नौ मुख्य हैं—१ न्यूनता, २ अधिकता ३ लिंगभेद, ४ वचनभेद, ५ पुरुषभेद, ६ कालभेद, ७ विधिभेद, ८ असादृश्य और ९ असम्भव।

उपमेय की अपेक्षा उपमान में जातिगत या परिमाणगत या धर्मगत न्यूनता या अधिकता होती है। इन दोषों का यत्र-तत्र उल्लेख कर दिया गया है। कुछ और उदाहरण दिये जाते हैं।

> ज्योंही जाना अवनि-पति ने वृत्त तो वज्र टूटा
> भू पै वैसे वह गिर पड़े शुष्क एरंड जैसे। अनूप

एरंड उपमान में जातिगत, धर्मगत और परिमाणगत तीनों न्यूनतायें हैं। राजा को रेंड कहना कदर्थता की पराकाष्ठा है। ऐसे स्थानों में कटे वृक्ष का उपमान लाया जाता है। राजा हो या रंक, उनके गिरने की दशा द्योतन के लिये ही यह आता है। क्योंकि उसके गिरने में वेग (धर्म) विशालता (परिमाण) वृक्षत्व (जाति) सभी उपमान योग्य होते हैं। उनकी समानता अनुरूप होती है। यह एरंड उपमान तो राजा को किसी योग्य नहीं रहने देता। सूखा एरंड हवा से गिरा या यों ही कौन जाने!

जो लोग काव्यप्रकाश के 'तुमने चाण्डाल की भाँति दुःसाहस का कार्य किया[1]' को देखकर ऐसे उदाहरणों में—

> चतुर सखिन के मृदु वचन वासर जाय विताय।
> पै निशि में चाण्डाल ज्यों मारत यह ससि आय॥

चाण्डाल आदि शब्दों को देखकर जातिगत न्यूनता को दोष बताते हैं यह ठीक नहीं। कारण यह कि विरहावस्था में विरहिणियों के मुख से ऐसे शब्दों का निकलना स्वाभाविक है और ऐसे स्थानों पर दूषण नहीं, भूषण स्वरूप है। दोषदृष्टि से यह उदाहरण भी ठीक नहीं है।

> मयंक कसाई लौं मारन को मोहि
> आज जुन्हाई को लेत जम्हाई।

वियोगिनी को चन्द्रोदयकाल में दुखित होकर ऐसा कहना काव्य की

१ चाण्डालैरिवयुष्माभिः साहसं परमं कृतम्।

दृष्टि से चमत्कारक और हृदयाकर्षक है। यह तो पद्माकर की इस उक्ति का इत्र है—

एरे मतिमंद चंद आवत न तोहि लाज
होके द्विजराज काज करत कसाई के।

कोई सहृदय ऐसी रचना को सदोष नहीं कह सकता। न्यूनता का यह एक मजे का उदाहरण है—

गीली राहें धीरे धीरे सूनी होतीं
जिन पर बोझिल पहियों के लंबे निशान हैं
माथे पर की सोच भरी रेखाओं जैसे। माथुर

इसका अर्थ स्पष्ट ही है। परिमाणगत न्यूनता की हद है।

कहूँ रैनचारी गहे ज्योति गाढ़े
मनौ ईस रोषाग्नि में काम डाढ़े। केशव

अग्नि की ज्वाला में जलते हुए राक्षसों की उपमा शिव-रोषाग्नि में जलते हुए काम से दी गयी है। भला कहाँ राक्षस और कहाँ काम। राक्षस कुरूप और काम सुरूप। राक्षस कठोर और काम कुसुम कोमल। जलने का साम्य भले ही हो पर जलनेवालों का साम्य कहाँ? इसमें जाति की अधिकता तो है ही, धर्म की भी अधिकता है। यद्यपि वह उक्त नहीं है।

वे जो जमुना के से कछार पद, फटे बिवाई के, उधार
खाये मुख से ज्यों, पिये तेल, चमरौधे जूते के सकेल
निकले, जी लेते, घोर गंध में उन चरणों को यथा अंध
कल प्राण प्राण से रहित व्यक्ति हो पूजूँ, ऐसी नहीं शक्ति।
—निराला

इसमें चाहे व्यंग्य हो वा नहीं पर पद की फटी बिवाई को बड़ी-बड़ी दरारवाला यमुना का विस्तृत कछार कहना उपमेय की अपेक्षा उपमान की अधिकता उपमेय को तुच्छ-सा कर देता है। उधार खाये मुख उपमान से भले ही दुर्गन्ध निकलती हो पर उसे चमरौधे जूते के साथ ला भिड़ाना उपमान की जातिगत अधिकता तो स्पष्ट है ही, धर्मगत भी अधिकता है। सजीवता, सुन्दरता आदि की भी है।

दूर जीवन के थपेड़ों से परे सूने गगन में आँख फाड़े
कल्पनाप्रिय युवक कवि से सहज निष्प्रभ
खड़ी हैं वैभवहीन पहाड़ियाँ। नेमिचंद

इसमें उपमेय कवि पुंलिंग और एकवचन और उपमान स्त्रीलिंग और बहुवचन है। कवि में परिमाणगत न्यूनता भी है।

होते यथा उदित पूषण के मही का सर्वत्र दूर रहता तम है तभी का।
वैसे त्वदीय सुत के अब जन्मते ही भू का अमंगल सभी शशश्रृंग होगा।
—अनूप

तम दूर रहता और अमंगल शशश्रृंग होगा, इनमें कालभेद है। एक वर्तमान में है और दूसरा भविष्य में।

नित फूलों से आप के फूलें सब अरमान।
हम समान हों जगत में नृप ज्यों आप स-मान। राम

पूर्वार्द्ध में फूले विधि क्रिया का मेल अरमान के ही साथ हो सकता है, उपमान फूल के साथ नहीं। क्योंकि फूल को फूलना नहीं है, वह तो फूला ही रहता है। इसी से फूल कहाता है। उसके साथ 'फूलें' यह विधि प्रयोग नहीं होगा। उत्तरार्द्ध में पुरुषभेद है। क्योंकि 'हों' विधि के साथ है। हम उत्तम पुरुष 'है' का-सा 'आप' प्रथम पुरुष के साथ अन्वय नहीं हो सकता। वहाँ 'हैं' किया कहनी पड़ेगी। यह पुरुषभेद दोष है। लिंग, वचन, काल, पुरुष और विधि भग्नप्रक्रम दोष के अन्तर्गत आ जाते हैं।

असादृश्य दोष से अभिप्राय है सादृश्य का अप्रसिद्ध होना और असंगत से अभिप्राय है उपमान का कभी सम्भव न होना। यत्र-तत्र असादृश्य का वर्णन हो चुका है। असंभव उपमान साधारण कवि भी लाने की चेष्टा नहीं करते। ये दोनों दोष अनुचितार्थ दोष के अन्तर्गत आ जाते हैं।

तेइसवाँ रंग—उपमेयोपमा और अनन्वय के प्रकार

उपमेयोपमा और अनन्वय प्रायः उपमा के एक प्रकार ही हैं। उपमेयोपमा में उपमेय और उपमान को परस्पर एक दूसरे को उपमान उपमेय कहे जाते हैं। इनके परस्पर उपमेय और उपमान होने का कारण तीसरे उपमान का तिरस्कार करना होता है। इसी में इसकी सार्थकता है। इसका कारण यही है कि एक दूसरे के उत्कर्ष के लिये तीसरे उपमान का अभाव ही कहा जाता है। जैसे—

वे रस लेना नहीं जानते थे, बल्कि बहता हुआ सुधा रस कभी अनजानते उनके मन की झील पर भी छलक गया तो वह एक अपरिचित देवी सुघटना

या दुर्घटना ही है। ऐसी मनःस्थिति में कोई योगी या जड़ मूर्ख ही रह सकता है और दयाल सिंह दोनों के बीच की दरार थे।

इसमें योगी जड़ के ऐसा है। दोनों एक दूसरे के उपमेय और उपमान हैं। 'ही' अन्य उपमान का निषेधक है।

दो सिंहों का मनी अचानक हुआ समागम
राक्षस से था न्यून न कपि या कपि से था वह कम। रा०च० उपा०

इससे प्रतीत होता है कि जोड़-तोड़ में वे दोनों एक दूसरे के बराबर थे। तीसरा उनके मुकाबले का कोई न था।

अनन्वय अलंकार में यह भी नहीं होता। इसमें एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय भाव से कहा जाता है। इसमें अन्य उपमान का अन्वय-सम्बन्ध नहीं रहता। कारण यह कि अन्य उपमान का अभाव रहता है।

"हाँ, मैं भी तुम्हारे साथ हूँ; पर अब सोचता हूँ कि वासना को ही प्रेम मानना क्या है, शैतान को ईश्वर मान बैठना है। शैतान शैतान है और ईश्वर ईश्वर।"

इसमें शैतान का उपमान शैतान ही है और ईश्वर का उपमान ईश्वर ही है, अन्य नहीं, यह उक्त है।

उस काल दोनों में परस्पर युद्ध वह ऐसा हुआ
है योग्य बस कहना यही अद्भुत वहीं ऐसा हुआ। गुप्तजी

उस युद्ध के ऐसा वही युद्ध था, यह जो उक्त है उससे इसमें परस्पर अनन्वयात्मक उपमेयोपमानभाव है।

उपमा अलंकार के इन अनन्वय और उपमेयोपमा नामक भेद अनेक रूपों में दीख पड़ने लगे हैं। कुछ उदाहरण लें।

पाये हैं इसने गुण सारे मा सुमित्रा के
वैसा ही सेवाभाव वैसा ही आत्मत्याग
वैसी ही सरलता वैसी ही पवित्र-कान्ति। निराला

सुमित्रा में जैसे सेवा-भाव, आत्म-त्याग, सरलता, कान्ति, गुण विद्यमान थे वैसे ही लक्ष्मण में भी ये गुण विद्यमान थे। यहाँ का 'ही' निश्चय रूप से यह घोतन करता है कि वे ही इन विषयों में एक समान थे। तीसरी कोई नहीं था। यहाँ उपमेय उपमान में मिला हुआ है। वाचक 'जैसा' उत्प्रेक्षित है।

नारियों की महिमा—सतियों की गुणगरिमा में
जिनके समान जिन्हें छोड़ कोई और नहीं
माता हैं मेरी वे। निराला

इसकी अनन्वयता में गुणगरिमा का विषय-निर्देश कर दिया गया है। उसीमें जिनके समान जिनको—सीता के समान सीता को ही कहा गया है अर्थात् नारियों और सतियों के गुणगण में सीता के समान सीता ही है।

मानव मानव से नहीं भिन्न, निश्चय हो श्वेत कृष्ण अथवा
वह नहीं क्लिन्न, भेद करे पंक निकलता कमल जो मानव का। निराला

मानव मानव से भिन्न नहीं है, चाहे वह काला हो वा गोरा। पंक से—काले-गोरे-पन से मानवता का जो कमल खिलता है वह क्लिन्न पंक से आर्द्र नहीं होता। मतलब यह कि मनुष्य के समान ही मनुष्य है। काले-गोरे का भेद भी उन्हें भिन्न नहीं कर सकता। यह अपूर्व अनन्वय है। इसीको ऐसा भी कहा गया है—

जैसे मानव का रहना है, वैसे ही मानव बनकर मैं
जब तक जीवन में रह लूँगा। सुमन

मानव का जीवन जैसा होना चाहिये वैसा ही मैं अपना मानव-जीवन-यापन कर लूँगा। यहाँ भी कोई दूसरा उपमान नहीं, दोनों उपमेय और उपमानों की परस्पर उपमानोपमेय भाव है।

चौबीसवाँ रंग—मालोपमा की परम्परा

मालोपमा की परम्परा बहुत प्राचीन है। वह निरन्तर विकसित ही होती आ रही है। स्वाभाविक प्रतिभाशाली कवियों की जो अप्रस्तुतयोजनायें हैं वे भावुकतापूर्ण हैं। किन्तु जिन कवियों ने अनुकरणप्रियता को अपनाया है उनमें न तो भावुकता की झलक पायी जाती है और न अनुभवशीलता की। आदि कवि वाल्मीकि की मालोपमा फुल्ल-कुसुम-माला-सी सुन्दर और कण्ठहार बनाने के उपयुक्त है। उनका हिन्दी-अनुवाद यह है—

हनुमान ने सीता को इस भाँति देखा, जैसे क्षीण महाकीर्त्ति हो, तिरस्कृत श्रद्धा हो, परिक्षीण प्रज्ञा हो, प्रतिहत आशा हो, विध्वस्त सम्पत्ति हो, प्रतिहत आज्ञा हो, उत्पातकाल की दीप्त दिशा हो, अपहृत पूजा हो, तमोग्रस्त

चन्द्रमण्डलवाली पूर्णिमा की रात हो, विध्वस्त पद्मिनी हो, हतसेनापतिवाली सेना हो, तमोध्वस्त प्रभा हो, उपक्षीण नदी हो, अपवित्रीकृत यज्ञवेदी हो और शान्त अग्निशिखा हो। सुन्दर काण्ड १६। ११-१४

इस मालोपमा में यह प्रत्यक्ष है कि मूर्तिमती सीता के लिये जैसे कीर्ति, श्रद्धा, प्रज्ञा, आशा, सम्पत्ति आदि अमूर्त उपमान आये हैं, वैसे ही पद्मिनी, रात्रि, नदी आदि मूर्त उपमान भी हैं। वचन, लिंग आदि की बाह्य समता तो है ही गुण क्रिया का अन्तःसाम्य भी अपूर्व है और व्याख्या-सापेक्ष्य होने पर भी स्फुट है। एक-एक उपमान सीता के उन सादृश्य और साधर्म्य को झलका देता है जिससे उनकी दुर्दशा और दुरवस्था का चित्र सामने खड़ा हो जाता है। इन उपमानों से सीता की दीनता टपकी पड़ती है।

सीता के सम्बन्ध में अन्यत्र भी मालोपमा दीख पड़ती है, जिसमें पुनरुक्ति हो गयी है, पर उनमें नूतनता भी है। जैसे—

"महान् और विस्तृत शोक के जाल में पड़ी तपस्विनी सीता वैसी दिखाई पड़ी जैसी धूम्रजाल से घिरी अग्निशिखा हो, सन्दिग्ध स्मृति हो, निपतित ऋद्धि हो, विहत श्रद्धा हो, प्रतिहत आशा हो, सोत्पात सिद्धि हो, कलुषित बुद्धि हो और असत्य अपराध में पड़ी कीर्ति हो।"

सुन्दर काण्ड ५। ३२-३४

प्राचीन कविता का एक उदाहरण—

इन्द्र जिमि जंभ पर वाड़व सुअंभ पर
रावन सदंभ पर रघुकुलराज है।
पौन वारिवाह पर शंभु रतिनाह पर
ज्यों सहस्र बाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम दंड पर चीता मृग झुंड पर,
'भूषन' वितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंश पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलेच्छ वंश पर सेर शिवराज है।

अनेक प्राचीन कवियों ने मालोपमा की सार्थक योजना की है। तुलसीदास की अनेक रचनाएँ मालोपमा के अलंकारस्वरूप हैं।

खड़ीबोली की कविता में पंतजी की 'छाया' नामक रचना ने मालोपमा में बड़ा नाम कमाया। इसकी कुछ पंक्तियाँ हैं—

कौन कौन तुम परिहत वसना म्लानमना भूपतिता-सी
वातहता विच्छिन्न लता-सी रति-श्रान्ता व्रज-वनिता-सी,
नियतिवंचिता आश्रयरहिता जर्जरिता पद-दलिता-सी,
धूलि धूसरित मुक्त कुन्तला किसके चरणों की दासी,
गूढ़ कल्पना-सी कवियों की अज्ञाता के विस्मय-सी,
ऋषियों के गम्भीर हृदय-सी बच्चे के तुतले भय-सी,
आशा के नव इन्द्रजाल सी सजनि नियति-सी अन्तर्धान,
कहो कौन तुम तरु के नीचे भावी-सी हो छिपी अजान।
चिर अतीत की विस्मृत स्मृति-सी नीरवता की-सी झंकार
आँख मिचौनी-सी असीम की निर्जनता की-सी उद्गार।

गुप्तजी ने द्वापर में उद्धव की उक्तियों को विस्तृत रूप से मालोपमा का रूप दिया है। उसके कुछ पद्य ये हैं—

अहा गोपियों की यह गोष्ठी वर्षा की ऊषा-सी
व्यस्त ससंभ्रम उठ दौड़े की स्खलित ललित भूषा-सी,
श्रम कर जो क्रम खोज रही हो उस भ्रमशीला स्मृति-सी,
एक अतर्कित स्वप्न देखकर चकित चौंकती धृति-सी,
हो-हो कर भी हुई न पूरी ऐसी अभिलाषा-सी,
कुछ भटकी आशा-सी अटकी भावुक की भाषा-सी,
सत्य धर्म रक्षा हो जिससे ऐसी मर्म मृषा-सी।
कलश कूप में पास हाथ में ऐसी भ्रान्त तृषा-सी,

एक तलवार की मालोपमा देखिये कवि कैरव ने जिसकी योजना की है।

निर्दयता की निठुर मूर्ति-सी हत्या की जय झंडी-सी,
उष्ण रुधिर की प्यासी जो नित रहती है चण्डी-सी,
दुष्ट-जनों की कुटिल प्रीति-सी चारु कामिनी चितवन-सी,
नीच हृदय की स्वार्थ नीति-सी पराधीनता बन्धन-सी,
जीर्ण रूढ़ियों की हठ सी साम्राज्यवाद की काया-सी,
विधवा के संतप्त हृदय-सी नित अनर्थ की छाया-सी,
कामुकता की क्षणिक तृप्ति सी पवित्रता की दृढ़ता सी,
रिपुता के घन में चपला सी महाक्रोध की जड़ता सी,
धर्मराज की अति अभीतिमय सहनशीलता सी वह मौन
सूनी गोद मृत्यु की हँस-हँस भाती रहती है वह कौन ?

इस मालोपमा में तलवार के अनुकूल ही, उसके रूप-गुण के निदर्शक उपमान लाये गये हैं।

एक तत्काल की मालोपमा का आनन्द उठाइये—

आधी रात में खिला स्वतंत्रता का प्रात है
जैसे पंक में खिला हो रम्य राजीव एक,
काले गिरिशृङ्ग पर जैसे सजी चन्द्रिका,
जैसे मोह में खिलें अनन्त अनुभूतियाँ,
कर्कश शब्द जाल में हो वीर काव्य जैसे,
जैसे झंझावात मुक्त व्योम में विलीन हो,
जैसे अर्ध रात्रि में हो जन्म वासुदेव का
आज आधी रात में स्वतंत्रता का प्रात है। रा० कु० वर्मा

इस मालोपमा में मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के उपमान हैं। कवि यदि इन उपमाओं का आश्रय नहीं लेता तो स्वतंत्रता के प्रात की अनुभूतियों को प्रत्यक्ष नहीं करा सकता था। ये उपमान ही हैं जो हृदय में उफनते आनन्द को, उल्लास को तथा स्वतंत्र वातावरण को गोचर रूप देते हैं। उपमानों में कलात्मक नवीनता है।

इनके अतिरिक्त अन्यत्र भी यत्र-तत्र मालोपमा के लिये प्रयास देखा जाता है। उन उपमानों या अप्रस्तुतयोजनाओं में सबके सब सार्थक और उपयुक्त नहीं कहे जा सकते। उनके साधर्म्य की संगति बैठाना सहज नहीं और उनसे भावनाओं के तीव्र होने में भी साहाय्य प्राप्त नहीं होता। फिर भी कवि प्रतिभा की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता।

पचीसवाँ रंग—वैदिक उपमा

सभ्यता के साथ साहित्य की भी उत्पत्ति होती है। वेद ही हमारा सबसे प्राचीन उपलब्ध साहित्य है। इससे काव्य का मूल स्रोत भी वेद ही है। वैदिक ग्रंथों में काव्य की झलक पायी जाती है।

ऋग्वेद के उषा सूक्त में काव्यत्व अधिक पाया जाता है। ऋग्वेद का एक मंत्र है—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः।
ऋक् १।१२४।७

इस वैदिक मंत्र में 'अभ्रातेव पुंस' 'गर्तारोहिणीव' 'जायेव पत्ये' 'हस्रेव' इन चार उपमाओं का निर्देश निरुक्तकार यास्काचार्य ने किया है।

इसमें उषा के आगमन का वर्णन है। अन्य उपमाओं का अर्थ उतना सरस नहीं पर तीसरी उपमा का अर्थ बड़ा सुन्दर है। उषा वैसी ही आयी जैसी सुन्दर वस्त्रों से सजी-धजी जाया अपने पति के पास उपस्थित होती है।

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते
वक्ष उस्रेव बर्जहं। ऋक् १।९२।४

नर्तकी की भाँति उषा रूप धारण करती है और गाय जैसे दोहन-काल में अपने औधस् को प्रकाश करती है वैसे उषा भी अपने वक्ष प्रकाश करती है।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिपुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। यजु० ३।६०

बेर आदि फल पकने पर जैसे स्वतः अपने बन्धन से वृन्त से विमुक्त हो जाते हैं वैसे मृत्यु से हमें छुड़ाओ, अमृत से नहीं। इसकी उपमा का यही अर्थ है।

इन वैदिक मंत्रों की उपमाओं पर ध्यान देने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये विशेषतः वक्तव्य विषय को स्पष्ट करने के लिये ही लायी गयी हैं। प्रथम मंत्र की व्याख्यात 'उपमा से अपने कथन को रूप-प्रदर्शन के अतिरिक्त प्रभावशाली भी बनाया गया है। दूसरे मंत्र के अन्तर में पैठने से यह भी ध्वनित होता है कि गाय जैसे अमृतोपम क्षीर देती है वैसे ही उषा भी अपनी रश्मियों से अमृत बखेरकर जागतिक जीवों को जागरण और आनन्द देती है। अन्तिम मन्त्र का भाव यह है कि अमृतकामी मृत्यु से मुक्त होना चाहता है। उपमा अनायास मुक्त होने के भाव को व्यक्त करती है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
कठ० अ० २ व २।९

जिस प्रकार संपूर्ण भुवन में प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि प्रत्येक रूपवान् वस्तु के अनुरूप हो गया है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा उनके रूप के अनुरूप हो रहा है और बाहर भी है।

यहाँ की उपमा बाह्य वस्तुओं की विविधता की समता जीवों की विविधता

से जैसे कर रही है वैसे अग्नि से आत्मा की व्यापकता की भी। अविकारी रूप से अग्नि जैसे बाहर रहता है वैसे ही आत्मा भी आकाश के समान बाहर है।

स वा अयमात्मा
सर्वेषां भूतानामधिपतिः,
सर्वेषां भूतानां राजा ;
तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता।
एकमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः
सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः।

बृहदा २।५।१५

वह ही आत्मा समस्त प्राणियों का अधिपति है, समस्त प्राणियों का राजा है। जिस तरह से रथनेमि और रथनाह में सारे आरे निबद्ध रहते हैं, उसी तरह आत्मा में सब वस्तुयें, सब देव, सब लोक और सब प्राण—ये सब आत्मायें समर्पित हैं।

जिन लोगों ने गाड़ी के पहियों के और पहियों के मध्य तथा चक्के को मिलाने की लकड़ी की छड़ देखी हैं उनके लिये आत्मा में सब वस्तुओं के वर्तमान रहने की बात विशेषतः समझनी नहीं पड़ेगी। क्योंकि उपमा से यह स्पष्ट हो गया है।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।

कठ० अ० २ व० २।११

जिस प्रकार संपूर्ण लोक का नेत्र होकर भी सूर्य नेत्र सम्बन्धी बाह्य दोष से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार संपूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा संसार के दुःख से लिप्त नहीं होता, बल्कि उनसे बाहर रहता है।

इस उपमा से मन्त्रकर्ता का अभीष्ट है आत्मा की असङ्गतता-निर्लिप्तता प्रकट करना। सूर्य पवित्र वस्तुओं के साथ अपवित्र वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। पर जैसे उनके द्रष्टाओं के नेत्र अपवित्र पदार्थों के देखने से होनेवाले बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होते वैसे ही आत्मा भी इस लोक के दुःख से बाहर है।

शंकराचार्य तक ने ऐसी उपमाओं को 'तथान्यो दृष्टान्तः' कहा है पर दृष्टान्त की परिभाषा में ये उपमायें नहीं आतीं। आन ये उपमायें ही हैं। यथा तथा उपमावाचक हैं। इतनी ही वैदिक उपमायें पर्याप्त हैं।

छब्बीसवाँ रंग—१ उपमा कालिदासस्य

सुप्रसिद्ध कवियों की प्रशस्ति में कालिदास की प्रसिद्धि उपमाओं के लिये है। यह उक्ति सुप्रसिद्ध है और परम्परा से प्रवाद के रूप में—लोकोक्ति के रूप में प्रचलित है। इसका कारण यह नहीं कि उनके काव्यों और नाटकों में उपमाओं की अत्यधिकता है, बल्कि कहना चाहिये कि उपमा की ही भाषा में साहित्य-सर्जन है। कारण कुछ और ही हैं।

पहला कारण है स्मृति की प्रबलता। मन की एक ऐसी शक्ति होती है जो वस्तुओं को चाहे वे समतामूलक हों वा विरोधमूलक वा किसी संबंध से सम्बद्ध हो संचित ही नहीं कर रखती, बल्कि उनकी अनुभूतियों को भी सचेष्ट रखती है। वस्तुओं का केवल रूपगत सादृश्य ही नहीं उनके धर्मों की समता, विपरीतता आदि का भी उधेड़-बुन करती रहती है। इस स्मृति में प्रतिभा भी काम करती है। इसी असाधारण स्मृति-सम्पत्ति से कालिदास सम्पन्न थे।

दूसरा कारण तो यह है कि उनकी अप्रस्तुतयोजनायें स्वाभाविक हैं और काव्य के अङ्ग होकर आयी हैं। वे वर्णन के साथ ऐसी घुली-मिली हुई हैं कि कटक-कुण्डल के समान पृथक् करने के योग्य होने पर भी "रस की अभिव्यक्ति में उनकी बहिरंगता अमान्य है।"[1] "प्रतिभाशाली कवियों के समक्ष अलंकार प्रथम स्थान ग्रहण करने को आपाआपी से—हम पहले हम पहले कहते हुए टूटे से पड़ते हैं।"[2] इसी भाँति कालिदास की उपमायें आयी हैं।

तीसरा कारण यह है कि उपमेय और उपमान की समानता। वे रूप में, गुण, में, धर्म में, क्रिया आदि में एक से ज्ञात होते हैं। उनका सादृश्य ऐसा बैठ जाता है कि वह यथास्थान मधुर से मधुर और गम्भीर से गम्भीर हो जाता है। एक से दूसरे की सुन्दरता बढ़ जाती है। वस्तु आदि के साथ तज्जातीय वस्तु आदि की तुलना में हमें एक रूप से मानसिक तृप्ति होती है और हम इनका सम्बन्ध सम्यक् रूप से बैठाकर उनकी रमणीयता का अनुभव करते हैं।

चौथा कारण है उपमाओं की गम्भीरता। कालिदास की प्रायः प्रत्येक उपमा में यह विशेषता लक्षित होती है कि देखने में तो वे ऊपर से साधारण सी प्रतीत होती हैं पर वे हैं 'घाव करे गम्भीर।' उनके विश्लेषण से ऐसे तत्त्व

---

१ न तेषां बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ।

२ रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेः परायतन्ति। ध्वन्यालोक

उपलब्ध होते हैं जो बड़े मर्मस्पर्शी हैं। सामान्य रूप से विचार करने पर उनकी बारीकियाँ नहीं झलकतीं। उनके अन्तर में जैसे माधुर्य्य और अर्थ-चमत्कार हैं, वैसे ही वे अनेक कल्पनाओं के आधार भी हैं। 'अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग।' कालिदास की 'गागर में सागर' सी उपमायें अनेक निगूढ़ भावनाओं को भीतर समेटे हुई हैं।

पाँचवा कारण है उपमा का औचित्य। यह औचित्य है देश, काल, पात्र आदि के अवस्थान की पारस्परिक योग्यता का। औचित्य के अन्तरङ्ग में भी एक अनन्य साधारण रमणीयता वर्तमान रहती है। यदि यथोचित रूप से काव्य में औचित्य का समावेश हो तो साहित्य का सौन्दर्य बढ़ जाता है। उपमा प्रयोग में औचित्य का विचार-संगति ही नहीं ला देता, सुषमा का संसार भी फैला देता है। यह औचित्य कालिदास की उपमाओं में अबाधित रूप से वर्तमान रहता है।

छठा गुण है विराट् विश्व को अपनाना। कालिदास ने अपनी उपमाओं के लिये विश्व—प्रकृति की ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे अवस्थानुसार अपनाया न हो। कालिदास सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, गिरि-निर्झर, नदी-सरोवर, प्रातः-सायं-रात्रि, तरु-लता, फल-पुष्प, पशु-पक्षी आदि सारे प्राकृतिक पदार्थों को जैसे उपमान-रूप में लाये हैं वैसे ही मनुष्य-जीवन की सारी अवस्थाओं—सुख-दुःख, संयोग-वियोग, हास-रुदन आदि को भी उपमा में स्थान दिया है। इनपर कवि-प्रतिभा की कल्पनामयी कूची ने अनुभूति के विविध रंगों से वह चित्र प्रस्तुत किया है, जिसने वाह्य जगत् के साथ मानसिक जगत् को भी पाठकों के समक्ष प्रत्यक्ष करके उपस्थित कर दिया है।

सातवाँ कारण है लिंग, वचन आदि की एकरूपता। यह एक साधारण बात है पर इनकी विषमता रसभंग का कारण हो जाती है। लिंगभेद आदि एक प्रकार के उपमा के दोष हैं। कालिदास की उपमाओं में प्रायः ये दोष नहीं हैं।

कालिदास के काव्यों से कुछ उदाहरण देकर उनकी उपमाओं के महत्त्व का प्रदर्शन किया जाता है।

सत्ताइसवाँ रंग—२ उपमा कालिदासस्य

निम्नलिखित पद्यों में उपमायें किस प्रकार काव्य का अंग होकर आयी हैं उनके मर्म को समझिये।

> तदपोहितुमर्हसि प्रिये प्रतिबोधेन विषादमाशु मे।
> ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमौषधिः। रघु०

प्रिया-वियुक्त राजा अज कहते हैं कि प्रियतमे! जिस प्रकार ज्योतिर्मयी लता रात्रिकाल में प्रज्वलित होकर हिमालय के कन्दरागत अन्धकार को विदूरित करती है उसी प्रकार तू भी संज्ञा लाभ करके मेरे विषाद रूपी अन्धकार को दूर कर।

यहाँ अज की भावना यह व्यक्त होती है कि हिमालय की कन्दरा के गाढ़ान्धकार में भटकता हुआ व्यक्ति जैसे लता के प्रज्वलित होने से सजग हो जाता है वैसे ही अंकगता इन्दुमती भी सचेतन होकर मेरे विषाद को दूर कर दे। प्रदीप की भाँति जलनेवाली लता का उपमान ही ऐसा है जो इन्दुमती के सम्बन्ध में अज की इस धारणा को बल पहुँचाता है। ज्वलित के साथ चेतन की तुलना करते हुए अज की प्रार्थना में न जाने कितनी करुणा, कितनी कातरता और कितनी कामनायें करवटें ले रही हैं।

नीचे के पद्य में देखिये कि उपमान और उपमेय का कितना साम्य-संस्थापक सम्बन्ध प्रदर्शित है।

> तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय।
> समीरणोत्थेव तरंगलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम्॥ रघु०

वह वेत्रधारिणी प्रतिहारिणी सुनन्दा राजन्य-वर्ग की मानसचारिणी राजनन्दिनी को उसी भाँति एक राजा से दूसरे राजा के पास ले गयी जिस भाँति हवा से उठी हुई तरङ्ग-लहरी मानस विहारिणी राजहँसी को एक कमल से दूसरे कमल के पास ले जाती है।

इसमें वेत्रधारिणी सुनन्दा इन्दुमती की सखी के समान थी। इससे उसमें आनन्द और कौतूहल की लहरियाँ उठ रही थीं। उसकी गति में चंचलता थी। उसके पद ऐसे पड़ रहे थे, जैसे लीलामय लास्य में पड़ते हैं। फिर उसे वातोत्थित तरंगलेखा क्यों न कही जाय! राजकुमार भी एक-एक पद्म के समान ही थे। क्योंकि उनमें प्रस्फुटित यौवन के रंग-रूप थे, उल्लास और विलास भी थे। उनके मुख, कर, चरण पद्मोपमेय थे। फिर वे क्यों न पद्म कहे

जायँ। राजकुमारों के मानस की प्रणयाकांक्षा रूपी नीर में राजहंसी के समान ही राजकुमारी वंकिम भंगी से जब विचरण करती है तब आनन्दोल्लास से एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना सहज-सम्भव है। इससे कौन ऐसा है जो राज्यकन्या इन्दुमती को मानस-राजहंसी नहीं कहेगा? ऐसी उपमायें असाधारण हैं।

इस प्रकार इसमें प्रतिवस्तु के रूप, गुण, क्रिया का आनुपातिक सम्बन्ध —साम्यस्थापक संगति से उपमान और उपमेय एक अनुपमेय रमणीयता की सृष्टि करते हैं।

कालिदास की उपमा की गम्भीरता तथा विशालता का आदर्श एक पद्य में देखिये—

निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्। रघु०

यशस्वी दयालु राजा दिलीप रानी सुदक्षिणा को आश्रम में लौट जाने का आदेश देकर पयोधर-स्वरूप चार समुद्रवाली पृथ्वी के समान नन्दिनी नामक गाय की सुरक्षा करने लगे।

पृथ्वी गन्धवती होती है। इसीकी समता प्रदर्शित करने के लिये नन्दिनी गाय को सौरभेयी कहा।

राजा दिलीप साधारण गोचारक या गोपालक नहीं थे। इस गोचारण में भी उनका राजैश्वर्य विकसित था। वे केवल गाय को ही नहीं, गोरूप-धारिणी पृथ्वी का ही रक्षणावेक्षण करते हुए विचरण करते थे। इस बात से यह ध्वनि निकलती है कि समुद्र के सार जो रत्न हैं, उन रत्नों को भी इससे प्राप्त किया जा सकता है। यह भी ध्वनि होती है कि पृथ्वीपालन जैसा ही गोपालन भी कठिन है। साथ ही यह भी ध्वनित होता है कि गोपालन-व्रत जैसे पृथ्वीपालन भी एक व्रत ही है।

अब इससे सहज ही कालिदास की उपमाओं के वैभव, वैचित्र्य और महत्त्व पाठकों की समझ में आ जायेंगे। पृथ्वी की छोटी-सी उपमा का यही रहस्य है।

औचित्य निदर्शन का एक उदाहरण लें—

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव। शकु०

हे ब्रह्मन् आप अपनी कन्या शकुन्तला को दुष्यन्त द्वारा आहित तेज

को उस प्रकार धारण करनेवाली समझो, जिस प्रकार शमीलता अन्तर्निहित अग्निशिखा को धारण किये हुए रहती है।

कण्व को जो यह अशरीरिणी वाणी सुन पड़ी उसके उपमान पर ध्यान दीजिये। कण्व आश्रमवासी हैं। यज्ञ-जाप ही उनके जीवन का ध्येय है। वे शमी वृक्ष से परिचित हैं। कारण यह कि वैदिक ऋषि इसी शमी से यज्ञार्थ अग्नि उत्पादन करते हैं। उस अग्नि को वे पवित्र समझते हैं। यह उपमान इस बात को द्योतित करता है कि दुष्यन्त-आहित तेज भी पवित्र है। और उसमें यही शक्ति वर्तमान है, जो अग्नि में है। तुम शकुन्तला को शमी के समान ही जग-पावनी समझो।

यहाँ का उपमान देश, काल तथा पात्र के अनुकूल है। आश्रम और कण्व के योग्य ही परिचित, पवित्र और परिस्थिति का परिचायक है। ऐसी अनुरूप अप्रस्तुतयोजना सबके लिये सम्भव नहीं। इस उपमान में देववाणी, शकुन्तला, आश्रम, कण्व आदि की दृष्टि से औचित्य का अच्छा निर्वाह किया गया है।

सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ॥
सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव। रघु०

सुमित्रा ने लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामक दो यमज सन्तानों को वैसे जन्म दिया जैसे सम्यक् आराधिता—सुशिक्षिता विद्या प्रबोध और विनय को जन्म देती है।

कालिदास के इस उपमान से यह विदित होता है कि लक्ष्मण में ज्ञान की प्रधानता थी और भरत में संयम की। विद्या का उपमान सुमित्रा का शिक्षित होना व्यक्त करता है। इस उपमान से यह भी शिक्षा उपलब्ध होती है कि विद्याभ्यास का फल प्रबोध और विनय ही हैं।

कालिदास के उपमान लिङ्ग-वचन से कदाचित् ही कहीं दूषित हों। प्रायः इसका निर्वाह सर्वत्र देखा जाता है।

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत। रघु०

राजा दिलीप अन्तःसत्वा—गर्भिणी महारानी सुदक्षिणा को सागराम्बरा रत्नगर्भा वसुन्धरा के समान, अग्निगर्भा शमी की भाँति और अन्तःसलिला सरस्वती नदी की भाँति गौरवमयी मानने लगे।

यहाँ सुदक्षिणा के उपमान वसुन्धरा, शमी और सरस्वती तीनों स्त्रीलिंग और एकवचन हैं।

इस प्रकार कालिदास की उपमाओं के विश्लेषण से उनके ऐसे जौहर खुलते हैं, जो अन्यत्र नहीं दीख पड़ते। उनके काव्य-नाटक ऐसी उपमाओं से लबालब भरे हुए हैं। यहाँ तो स्थालीपुलाक न्याय से दो-चार उपमानों का भिन्न-भिन्न दृष्टि से विवेचन किया गया है।

एक और उदाहरण लीजिये—

वैवस्वतोमनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव। रघु०

वेद में प्रणव अर्थात् 'ओं' सब मंत्रों का आदि है। छन्दों का ओंकार जैसा सारभूत है और मुनिऋषियों का माननीय है वैसा ही राजाओं के आदि भूत और मनीषियों के माननीय वैवस्वत नामक एक मनु राजा थे।

कालिदास का यह उपमान जैसा मौलिक है वैसा ही प्राणवान है। इससे यह व्यक्त होता है कि मनु तेजोमय ज्योति से उत्पन्न हैं और उनका वंश पवित्र है और उस पवित्र वंश के राजा शुद्ध हैं। इसीसे "तदन्वये शुद्धिमति" अन्यत्र कहा गया है।

अट्ठाइसवाँ रंग—२ उपमा कालिदासस्य

डी० एल० राय ने अपने 'कालिदास और भवभूति' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि उनकी 'सरसिजमनुविद्धं शैवलेन' उपमा अतुल है, 'किसलयमिव पाण्डुपत्रेषु' सुन्दर है और 'अनाघ्रातं पुष्पम्' अद्भुत है। सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्। शकु०

जैसे कमल सेवार से घिरा हुआ होने पर भी सुन्दर दीख पड़ता है और चन्द्रमण्डल का कलंक—काला चिन्ह भी उसकी शोभा का विस्तार करता है वैसे ही यह कृशाङ्गी अपूर्व सुन्दरी शकुन्तला वल्कल धारण करके भी अत्यन्त मनोहारिणी हो रही है। मधुर आकृतिवालों के लिये सभी वस्तुयें भूषण बन

जाती है। अर्थात् जो स्वभावतः सुन्दर है वह जो भी पहन लेती है सभी सुन्दर मालूम होते हैं, सभी भूषण बन जाते हैं।

कवि का अभिप्रेत है कि कण्व मुनि ने ऐसी कोमलाङ्गी को क्यों वल्कल पहनाया ? पर पहनावें तो क्या पहनावें ? वल्कल के सिवा वहाँ दूसरा है ही क्या ? उन्होंने अपने अविवेक से ऐसा वल्कल नहीं पहनाया। सुकुमारी शकुन्तला के यौवनोचित यह परिधान ठीक नहीं था। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि सुन्दर शरीर का यह असुन्दर परिधान—वल्कल भी सुन्दर हो गया है ; खूब खिल रहा है; भूषण ही बन गया है। यहाँ कालिदास की ये दो अप्रस्तुतयोजनायें उपमा में ली गयी हैं। हम तो इन्हें दृष्टान्त कहेंगे। इससे यह बात पुष्ट होती है कि स्वभावसुन्दर वस्तु अनलंकृत वा असज्जित होने पर भी अपने स्वाभाविक सौन्दर्य की केवल रक्षा ही नहीं करती, बल्कि अर्वतन-साधित अनुपयुक्त वस्तु से उसकी शोभा और भी बढ़ जाती है ; उसमें चार चाँद लग जाते हैं।

सरसिज और हिमांशु दोनों ही स्वभाव-सुन्दर हैं ; सुशीतल हैं और नेत्रों के लिये आनन्ददायक हैं। सरसिज के स्थान पर कमल आदि और हिमांशु के स्थान पर निशापति आदि शब्दों का प्रयोग न किया गया। कारण यह कि उनसे शैत्य आदि की व्यञ्जना नहीं होती। वह अन्य शब्दों से सम्भव नहीं थी। जब शैवाल और कलंक इनके शोभावर्द्धक होते हैं तब वल्कल से शकुन्तला का अधिक मनोज्ञ होना निश्चित है। मानसिक तुलना में सौन्दर्य अधिक प्रस्फुटित होता है, यह उसका स्वाभाविक गुण है।

> केयमवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
> मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्। शकु०

यह घूँघटवाली कौन नारी है ? अभी भी इसके शरीर का सौन्दर्य भली-भाँति—सम्यक् प्रकार से प्रस्फुटित नहीं हुआ है। फिर भी सुन्दरता की खान मालूम पड़ती है। तपोधन मुनियों में यह कौन है ? देखकर मन में ऐसा भासता है कि पके हुए पीले पुराने पत्तों के बीच कोई प्रस्फुटित होता हुआ नव पल्लव हो।

शारङ्गरव और शारद्वत तथा गौतमी सभी तपोधनी हैं ; उन्होंने तपस्या का धन ही संग्रह किया है। इससे ज्ञात होता है कि सभी वयोवृद्ध हैं, शुष्क तथा नीरस हैं और पतनशील हैं—मृत्युनिकटवर्ती हैं। पीले पत्ते भी ऐसे ही होते हैं, अब गिरे तब गिरे की दशा में ही रहते हैं। नया पत्ता ही

किसलय कहलाता है। इसी दशा में वह कोमल तथा कमनीय, रंगीन और चमकदार होता है। इससे द्योतित होता है कि शकुन्तला का शरीर सुन्दर, सुकुमार और नव आभा से आभषित है। यहाँ उपमेय और उपमान का आनुपातिक सम्बन्ध सुष्ठुतर है, सर्वाङ्गसुन्दर है।

> अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
> रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
> अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
> न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः। शकु०

वह निर्दोष रूप एक ऐसे फूल के समान है, जिसे अभी तक किसी ने सूँघा नहीं। एक ऐसे नये पल्लव के समान है, जिसे नखों ने खोंटा नहीं। एक ऐसे रत्न के समान है, जिसमें किसी ने छेद किया नहीं, और एक ऐसे मधु के समान है, जिसका रस किसी ने चखा नहीं। विधाता न जाने पुण्यों के अखण्ड फल के समान इस निष्पाप अछूते रूप को किस भाग्यशाली को समर्पण करेगा।

इस पद्य के पूर्वार्द्ध में जो चार अप्रस्तुतयोजनायें है वे वाचक न रहने के कारण शकुन्तला के अनघ रूप के रूपक-स्वरूप हैं। केवल 'इव' एक पुण्य के साथ होने से उसे उपमा कहा जा सकता है। किन्तु 'इव' का सम्बन्ध सबके साथ जोड़ने से सभी उपमान हो सकते हैं और इसी भाँति पद्य का अर्थ किया गया है।

इन वस्तुओं के साथ शकुन्तला की तुलना से दुष्यन्त के उन्मथित हृदय की लोलजिह्व वासना ही फूटी पड़ती है। शकुन्तला का रूप इतना लोभनीय है, कामना की कमनीय मूर्ति है कि सारा संसार उसको चाह रहा है। तभी तो उसका भोक्ता अनिश्चित है। इस कविता के प्रत्येक उपमान से जैसे शकुन्तला की निष्कलुषता झलकती है, वैसे ही उसकी लोभनीयता और काम्यता प्रकट होती है। इतना होने पर भी कामुकता की कहीं भी गन्ध नहीं। शकुन्तला सर्वकाम्य होने पर भी अखण्ड पुण्यशाली को ही उसके पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त होगी।

कालिदास की उपमाओं की विवेचना पर बड़ा से बड़ा ग्रन्थ तैयार हो सकता है। इस पुस्तक का तो केवल कालिदास की उपमाओं की चाशनी चखाना मात्र ही उद्देश्य है।

उन्तीसवाँ रंग—४ उपमा कालिदासस्य

कालिदास की उपमा की विविधता अवर्णनीय है। उनका वर्गीकरण किया जाय तो उसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। उसके ये कई प्रकार हैं—

१—जड़ चेतन का एकीकरण—

> अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
> कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।

शकुन्तला के अधर नवोदित पल्लव की भाँति आरक्त हैं। दोनों भुजायें कोमल विटप के अनुकरण करनेवाली अर्थात् नवजात शाखा की भाँति कोमल हैं और शकुन्तला के अङ्गों में लोभनीय कुसुम के समान यौवन आपादमस्तक खिल उठा है।

प्रियंवदा ने जब यह कहा कि 'अयि शकुन्तले! यहाँ थोड़ी देर खड़ी हो जा। उसके निकट खड़ी होने से नवीन वकुल वृक्ष ऐसा मालूम होगा जैसे लता से सनाथ हो गया हो'। उसपर दुष्यन्त की उक्त उक्ति ने यथार्थतः शकुन्तला को लता ही बना डाला। इस प्रकार जड़-चेतन का सामञ्जस्य—एकीकरण कालिदास की प्रकृतिप्रियता का नमूना है। प्रकृति के साथ मनुष्य का यह आन्तरिक संयोग शकुन्तला के चतुर्थ अंक में खूब देखने में आता है। यह उपमा का ही परिणाम है। कुमारसम्भव में भी हिमालय दुहिता उमा को

> पर्यस्तपुष्पस्तवकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव।

बिखरे हुए फूलों के गुच्छों से झुकी चलती-फिरती पल्लविनी लता की भाँति बताकर जड़-चेतन का साम्य उपस्थित किया गया है।

२—मनुष्यगुणप्रदर्शक प्राकृतिक उपमान—

> स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्।
> आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।

विश्वविजयी राजा रघु ने बड़ी धूमधाम से विश्वजितयज्ञ सम्पन्न किया। उस यज्ञ में सर्वस्व—जो पहले का था और जो दिग्विजय में संग्रह किया गया था, दक्षिणा में दे दिया गया। जैसे वारिवाह वाष्प रूप में संग्रह करता है और धारा रूप में बरसा देता है वैसे ही सज्जनों का संग्रह सत्कार्य में व्यय करने को ही होता है।

इसमें जलद का उपमान इस बात को सूचित करता है कि जैसे सूर्य की किरणों से वाष्प रूप में गृहीत विश्वंभरा पृथ्वी के रस का विश्वकल्याण के लिये ही उपयोग होता है, वैसे ही पृथ्वीपालक राजा को भी प्रजा से गृहीत धन का उपयोग उन्हीं की वृद्धि के लिये करना चाहिये, न कि अपने सुख-भोग के लिये। इस प्रकार कालिदास ने मानवोचित महान गुणों का साधर्म्य भी इस जड़-प्रकृति के साथ दिखलाकर उसे भी हमारा समकक्ष बना दिया है।

३—अमूर्त का मूर्त वा सूक्ष्म का स्थूल उपमान—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्थितं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य। शकु०

जैसे प्रतिकूल वायु में ध्वजा को लेकर चलने से उसका रेशमी वस्त्र पीछे की ओर जाता है, वैसे ही मेरा शरीर तो आगे की ओर बढ़ रहा है पर चंचल चित्त पीछे की ओर ही उड़ा जा रहा है।

इसमें उपमेय चित्त अमूर्त वा सूक्ष्म है और इसका उपमान चीनांशुक स्थूल वा मूर्त है। इनका आनुपातिक सम्बन्ध इतना सम-तूल है कि कहते नहीं बनता। यह उपमान दुष्यन्त के प्रणयासक्त मानस की अवस्था को हमारे सामने खोलकर रख देता है।

४—समान रूप-रंग का सूक्ष्म उपमान—

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सवत्सलो वत्सहुतावशेषम्।
पपौ वशिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः॥ रघु०

अनिन्दित-चरित सवत्सल दिलीप ने वशिष्ठ की आज्ञा पाकर नन्दिनी के बछड़े के पीने से बचे हुए दूध को पीकर अपनी तृष्णा का निवारण किया। उन्होंने उस दूध को ऐसे पिया जैसे मूर्तिमान अपने सुयश ही को पिया हो।

इसमें 'इव' ने उपमा की अपेक्षा उत्प्रेक्षा का ही रूप अधिक धारण किया है। यद्यपि यह अप्रस्तुतयोजना उपमा से बहिर्भूत नहीं है। यश भी स्वच्छ होता है और दूध भी स्वच्छ है। दूध मूर्त उपमान का यह अमूर्त उपमेय रूप और गुण दोनों की समता करता है। इस उपमान से यह व्यञ्जित होता है कि इस दुग्धपान से दुग्ध रूप में रघु का जो अवतार होगा वह यशोरूप ही होगा। उसकी यशोदुन्दुभी दिग्दिगन्त में बज उठेगी। रघु के यश के सम्बन्ध में कालिदास ने आगे लिखा है—

आरूढ़मद्रीनुदधीन् वितीर्णं भुजङ्गमानां वसतिं प्रविष्टम्।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम्।

सखी इन्दुमती से कहती है कि उस रघु राजा के सुयश का क्या कहना। वह पहाड़ों पर चढ़ गया है, समुद्रों में फैल गया है, पाताल में पैठ गया है और आकाश में छा गया है। अर्थात् पर्वत, समुद्र, पाताल और स्वर्ग में उनके सुयश का गान होता है। उनके चिरस्थायी यश का देश, काल या किसी परिमाण से परिमित करना किसी के वश की बात नहीं है।

५—कालिदास का मानवीकरण—

वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः।
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्। मेघदूत

जब तुम पथश्रम भूलने के लिये उस हिमालय के उज्ज्वल शृङ्ग पर बैठोगे तब तुम्हारी शोभा वैसी ही हो जायगी जैसी शिव के उखाड़ते हुए वृषभ के शृङ्ग पर लगी मलिन कीचड़ की शोभा होती है।

यहाँ मेघ का हिमशृङ्ग पर बैठना मानवीकरण है। हिमालय पर मेघ का छाना स्वाभाविक है। कालिदास को इसके लिये उपमान ढूँढना नहीं पड़ा। हिमालय पर शंकर रहते हैं। उनका उज्ज्वल वृषभ, उसका सींग और उसपर कीचड़ सब कुछ इकट्ठा ही मिल गया। इस उपमान में कवि की पैनी दृष्टि ने कमाल कर दिया है।

इस प्रकार कालिदास की उपमाओं के विश्लेषण से उसके अनेक जौहर खुल सकते हैं। स्थालीपुलाकन्याय से यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि कालिदास की उपमाओं में कहीं कुछ त्रुटि न हो। सहृदयों की मार्मिक दृष्टि उपमाओं की असंगति तथा अप्रस्तुत-योजनाओं की त्रुटियाँ देख ही लेती है। मार्मिक समालोचक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'कालिदास की निरंकुशता' नामक पुस्तक में एक उपमान की निरंकुशता सिद्ध कर दिखायी है। ऐसे ही 'राममन्मथ शरेण ताडिता' का रूपक भी सहृदयावर्जक नहीं। फिर भी 'एको हि दोष गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः' की भाँति एक-दो दोष गुणगण में मिल जानेवाले ही हैं।

तीसवाँ रंग—होमरशाही उपमा

"होमर (Homer) की उपमायें वैचित्र्य, प्राचुर्य, सौन्दर्य और गाम्भीर्य से परिपूर्ण हैं। अनेक स्थलों पर जब वे उपमा देने बैठते हैं तब उपमान को छोड़कर उपमेय को इस तरह सजाने लगते हैं, उसके सम्बन्ध में इतनी विस्तृत वर्णना करते हैं कि वह उपमेय स्वयं एक सौन्दर्य का नन्दन-कानन बन जाता है और उस समय पाठक उपमान को भूल जाकर उपमेय की ओर विस्मित मुग्ध दृष्टि से ताकने लगता है। उसके सम्बन्ध में पोप का कहना है कि 'स्थिति का स्वेच्छानुरूप उपयोग करने में वह संकोच नहीं करता।"

"दूर से लक्षित होनेवाले किसी द्वीप में स्थित नगर से—जब वह शत्रुओं से घिर जाता—धुँआ आकाश की ओर ऊपर उड़ता है। नगर-निवासी समस्त दिन घोर युद्ध में निरत रहते हैं; परन्तु सूर्यास्त होते ही विपत्तिसूचक अग्नियाँ एक-एक कर प्रज्वलित की जाती हैं और उनकी दीप्त शिखायें ऊपर उठती हैं जिससे उन्हें देखकर समीपस्थ मित्रदल जहाज लेकर उस द्वीप की रक्षा के लिये आ जायँ। ऐसा ही प्रकाश एकिलेस के मस्तक से निकलकर आकाश की ओर उड़ा।"

यह 'होमर' की एक कविता का अनुवाद है। "इस जगह पर सूर्यास्त होते ही विपत्तिसूचक अग्नियाँ एक-एक कर प्रज्वलित की जाती हैं और उनकी दीप्त शिखायें ऊपर उठती हैं।" केवल इतनी ही उपमा है। बाकी सब अवान्तर बातें हैं।

"इस चित्र को इतना यत्न करके, संपूर्ण करके, विशेष करके अंकित किया है कि वही एक संपूर्ण चित्र बन गया है।"[1]

भारतीय-भाषाओं में भी इसका अनुकरण होने लगा है। कुछ ये उदाहरण हैं।

> वीणापाणि भारति, माँ, जैसे तुम बैठी थीं
> आकर बाल्मीक-रसना पै, कृपा करके;
> मानों पद्म आसन पै, जब घन वन में—
> क्रौंचवध व्याध ने किया था खर शर से,
> करता विहार था जो क्रौंची संग सुख से;
> आके तुम दास पर वैसे ही दया करो। मेघनादवध

१ कालिदास और भवभूति।

इसमें स्थिति को स्पष्ट करने के लिये कोई बात छोड़ी नहीं गयी है। कवि ने सरस्वती की कृपा का वह चित्र खड़ा कर दिया है जो वाल्मीकि के मुख से शोकोद्गार के रूप में प्रकट हुआ था। यहाँ उपमा के प्रयोग से वक्तव्य विषय, अधिक से अधिक प्रभावोत्पादक हो गया है।

"जिस पर्वत के भीतर ज्वालामुखी घुमड़ती रहती है, जोश में बदन ऐंठती रहती है, जोर-जोर से साँस लेती रहती है, दाँत पीस-पीसकर गुर्राती रहती है, पर बाहर निकलकर मुक्त नीलाम्बर के नीचे लास्य-नृत्य करने का कोई संघ नहीं पाती, उस पर्वत पर ऊपर शीतल निर्झर कल-कल निनाद करते रहते हैं, हरियाली हँसती रहती है, फल भरे वृक्ष शीतल समीर से झूमते रहते हैं, पक्षी चहचहाया करते हैं—भीतर का हाल पर्वत जानता है या जानते हैं अन्तर्यामी, पर ऊपर की शोभा का रस संसार लेता है—यही दशा अशेष की थी।" शेषदान

होमरी उपमा का यह गद्योदाहरण अपूर्व है।

छिन्न प्रकृति के निर्दय आघातों से हो जाते हैं,
जो पुष्प, नहीं कहते कुछ, केवल रो जाते हैं,
वे अपना यौवन-पराग-मधु खो जाते हैं,
अन्तिम श्वाँस छोड़ पृथ्वी पर सो जाते हैं,
वैसे ही मैंने अपना सर्वस्व गँवाया,
रूप और यौवन चिन्ता में, पर क्या पाया ! निराला

इस कविता में होमरी उपमा का रूप सुन्दर दीख पड़ता है।

वक्ष पर जल जिसके उडुगन चुम्बा देते असंख्य जीवन,
कनक और नीलम यानों पर दौड़ते जिस पर निशि-बासर,
पिघल गिरि से विशाल बादल न कर सकते जिसको चंचल,
तड़ित की ज्वाला घन गर्जन जगा पाते न एक कंपन,
उसी नभ सा क्या वह अविकार और परिवर्तन का आधार। महा०

इसमें आकाश की उपमा से यह बात सिद्ध की गयी है कि जन्म-मृत्यु और जन्मान्तर के रूप-परिवर्त्तन जैसे अनेक परिवर्त्तन होने पर भी आकाशवत् आत्मा निर्लेप है।

इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी उपमायें भाषा की सौन्दर्य-वृद्धि ही नहीं करतीं बल्कि कवि के वर्णन को अधिक स्पष्ट, पूर्ण और प्रभावोत्पादक बनाती हैं। पर इनका प्रयोग उतना ही होना चाहिये जितना स्वाभाविक हो। वर्णन

उतना ही विस्तृत किया जाना चाहिये जिससे उपमान और उपमेय की सौन्दर्य-वृद्धि हो।

हमारे साहित्य में पाश्चात्य प्रभाव से ऐसी उपमाओं की वृद्धि हो रही है।

इकतीसवाँ रंग—होमरी उपमा के दो रूप

जिसमें केवल उपमान का ही वर्णन रहता है, ऐसी उपमाओं के जो उपमान आते हैं उनका एक रूप है और दूसरा रूप वह है जिसमें उपमेय और उपमान, दोनों के परिस्थिति के अनुकूल बिम्ब ग्रहण कराने का प्रयत्न देखा जाता है। पहले में उपमान की सजावट से ही उपमेय की सजावट हो जाती है और उसका प्रतिबिम्ब उपमेय में झलक जाता है। पहले के साम्य का भार पाठकों पर छोड़ दिया जाता है और दूसरे में दोनों ओर के वर्णन समतामूलक ही होते हैं जिससे पाठकों को सहज ही साम्य का बोध हो जाता है।

"कगारों से बँधी हुई सोन नदी फुफकार करती हुई, गुर्राती हुई उसी तरह शिवनगर को देखा करती थी जिस तरह पिंजड़े में बन्द सिंहिनी सामने खड़ी किसी मानव-मूर्त्ति को देख-देखकर दाँत पीसा करे।"

इसमें उपमेय और उपमान दोनों का समान रूप से वर्णन है। दोनों के रूप-गुण एक समान सामने आते हैं।

आयी तब निद्रा देवी श्रान्त शिशुकुल ज्यों
लेता है विश्राम जननी के क्रोड़ नीड़ में,
जलथलचारी सब प्राणियों ने देवी के
चरणों के आश्रय में पाया, सुविश्राम त्यों। मेघनादबध

इसमें उपमान और उपमेय दोनों के ही संपूर्ण यत्न से चित्र चित्रित किये गये हैं।

सलिल प्रवाह में बहता ज्यों शैवाल जाल
गृहहीन लक्ष्यहीन यन्त्रतुल्य,
किन्तु परमात्मा की प्रेममयी प्रेरणा से
मिलता है अन्त में असीम सागर से
हृदय खोल मुक्त होता
मैं भी त्यों त्याग कर सुखाशायें

घर-द्वार धन-जन—
बहता हूँ माता के चरणामृत-सागर में
मुक्ति नहीं जानता, भक्ति रहे काफी है। निराला

इसकी उपमा में उपमान और उपमेय की समता की बड़ी स्पष्टता है। जैसा ही शैवाल-जाल वैसा ही कवि।

देव दम्पति के परस्पर पार्श्ववर्ती मन्दिरों के
शिखर की ज्यों;
युगल कलसी को कँपाता गूँज जावे
अगर धूमिल आरती का नाद,
—एवमेव
शमन में, जीवन जगा धृति को चिरन्तन गति बनाकर
स्तब्ध स्वर
बोला हमारा प्यार—
नहीं उमड़ा वासना का ज्वार। अज्ञेय

नयी शैली की कविता का यह एक नमूना है। इसमें उपमान और उपमेय प्रायः समान रूप से वर्णित हैं। समानता के लिये कष्ट उठाना नहीं पड़ता।

प्रेषणीयता के रूप में और होमरी उपमा में प्रायः एकता नजर आती है। पर प्रेषणीयता के लिये यह आवश्यक नहीं कि उपमान और उपमेय सजाये जायँ और उनमें अवान्तर बातें लायी जायँ। किन्तु होमरी उपमा में ये ही बातें रहती हैं।

बत्तीसवाँ रंग—रवीन्द्रनाथ की उपमायें

संस्कृत साहित्य में 'उपमा कालिदासस्य' यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है। अभिप्राय यह कि कालिदास उपमाप्रयोग के कुशल कलाकार हैं। यह कलाकारिता बँगला के युगपरिवर्तनकारी विश्वविख्यात कविकुलचूड़ामणि रवीन्द्र की कविताओं में भी देखी जाती है। इन उपमाओं से उनकी कविता चमक उठी है, उनमें लोकोत्तर आनन्ददान की अधिकाधिक शक्ति आ गयी है और वे अपनी शक्ति से रसिकों को रस में सराबोर कर देती हैं। चित्राङ्गदा अपना अपरूप रूप सरोवर सलिल में देखकर

मुग्ध होती है, और उस दृश्य को देख अर्जुन के मुख से जो निकला उसकी एक उपमा सहस्र मुख से प्रशंसनीय है।

सेइ येन प्रथम देखिल आपनारे
श्वेत शतदल येन कोरक वयस
यापिल नयन मूँदि—ये दिन प्रभाते
प्रथम लभिल पूर्ण शोभा सेइ दिन
हेलाइया ग्रीवा, नील सरोवर जले
प्रथम हेरिल आपनारे, सारा दिन
रहिल चाहिया सविस्मये। चित्राङ्गदा

जिस दिन प्रातःकाल चित्राङ्गदा की शोभा परिपूर्ण हुई, निखर उठी यौवनविकास हुआ उसी दिन उसने ग्रीवा वंकिम करके नील सरोवर के नी[ल] जल में अपने को देखा। वह सारा दिन अपने को सविस्मय देखती ही र[ह] गयी। जैसे श्वेत कमल अनजाने अपनी कोरकावस्था को पार कर गया हो यही उसका अपने को पहली बार देखना था।

कविता के इस वाच्यार्थ में उपमा ऐसी घुल-मिल गयी है कि उसे अलग कर दिया जाय, तो कुछ रस ही न मिलेगा, सूखा-सा वर्णन रह जायगा। इस वर्णन से मानस-पट पर जो चित्र अंकित होता है वह रंग-रेखाओं से जैसा परिपूर्ण है, वैसा उपमाहीन होने से नहीं होता।

उपमेय मुख जैसा सुलभ है वैसा ही सुलभ उपमान कमल भी है। अपरिज्ञात परम्परा से ये उपमान और उपमेय परिचित चले आते हैं। किन्तु इनपर जब कवि-प्रतिभा का प्रकाश पड़ता है तब इनका सौन्दर्य भास्वर और आह्लादक हो उठता है। ये चिर-परिचित कवि-सहचर अपने नूतन रूप लेकर रसिकों के समक्ष उपस्थित होते हैं और कभी उद्वेगजनक नहीं होते। इसमें केवल चित्राङ्गदा का वह मुख ही नहीं, सर्वाङ्ग से वह वर्तमान है। फिर भी उसमें मुख की प्रधानता है।

चित्राङ्गदा ने कौमारावस्था से यौवन में प्रथम पदार्पण किया है। उसने अब तक इस रूप में अपने को कभी निरीक्षण नहीं किया है। दर्पण के अभाव में आश्रम-सुलभ सरोवर-जल में अपना प्रतिबिम्ब देखा। नीला विशेषण नीर की अधिकता और स्वच्छता प्रकट करता है। इससे स्पष्ट है कि उसमें मुख यौवन की आभा लिये झलक रहा है। स्वच्छ जल में बिखरी हुई मुखच्छवि आँखों में अँटती नहीं। कवि ने जान-बूझकर शतदल शब्द को

रखा, कमल आदि को नहीं। क्योंकि शतदल शब्द से कमल की जैसी झलक—आभा फूट पड़ती है वैसी कमल आदि से नहीं।

चित्राङ्गदा मुग्धा से अज्ञातयौवना की अवस्था में आयी है। उसे इस परिवर्तन का भान उसी रोज हुआ, जिस रोज नील जल में अपना प्रतिबिंब देखा। शतदल यह नहीं जानता कि कब उसकी कोरकावस्था हुई और कब वह बीत गयी। ऐसी ही उसकी कुमारावस्था से यौवनावस्था की प्राप्ति है। उसने नेत्र बन्द किये कोरक की वयस को बिता दिया। चित्राङ्गदा को अपना वह विकास, वह सौन्दर्य, वह मदालस भरा यौवन इन्द्रजाल से जन्मा-सा जान पड़ा।

श्वेत शतदल कवि की इस बात को भी बतलाता है कि चित्राङ्गदा तत्काल श्वेत चीरवल्कल पहने हुई थी या श्वेत सुमनों से सजी-धजी थी। एक-एक दल से कमल की जो शोभा होती है, वही शोभा एक-एक आवरण और आभरण से हो रही थी। पूर्ण प्रस्फुटित पंकज का कोई भी अंग अशोभन नहीं होता, वैसा ही उसका कोई भी अंग अशोभन नहीं था। एक-एक दल से फूटती हुई आभा जैसी अंग-अंग से उसकी आभा फूटी पड़ती थी।

यह उपमा केवल रूप-रंग से ही नहीं, कोमलता, स्निग्धता, मसृणता आदि बाह्य गुणों से ही नहीं, आह्लादकता, आकर्षणता आदि आन्तरिक गुणों से भी समता करती है। यही क्यों, देश और काल का भी इसमें साहश्य और साधर्म्य है। शतदल प्रभात में ही प्रस्फुटित होता है। उसी समय शोभा अशेष रूपसे हाथ बढ़ाकर उसे आलिंगित करती है। वैसे ही वह प्रथम प्रभात में ही अपने सौन्दर्य पर लुब्ध-मुग्ध होकर अपने को खो बैठी और उसे दिन बीतने का कुछ भान ही न हुआ। प्रतिबिम्ब विलोप पर ही उसको सुध आयी कि प्रातःकाल से ही मैं अपने को देखती रही और अब संध्या हो गयी। दोनों का देश भी सरोवर का जल ही है। उधर कमल खिला है और इधर है चित्राङ्गदा का प्रतिबिंब। शायद ही ऐसा स्वर्ण-सुयोग किसी उपमान और उपमेय को मिला हो।

इसी चित्र को रवीन्द्रनाथ ने अन्यत्र भी ज्यों का त्यों चित्रित किया है, पर वह वैसा आकर्षक नहीं है। वह इसके ऐसा आनन्ददायक नहीं है। देखिये—

निहारिल नत करि शिर परिस्फुट
देहतटे यौवनेर उन्मुख विकाश।

देखिल चाहिया नव गौर तनुतले,
आरक्तिम आलज्ज आभास; सरोवरे।
पा दुखानि डुवाइया देखिल आपन,
चरणेर आभा।—विस्मयेर नाइ सीमा।

यहाँ भी सरोवर में अपनी देह की आभा, यौवन का उन्मेष—विकास देखना है, पर न तो प्रभात है और न उत्फुल्ल शतदल ही।

२ हे एका सखा, हे प्रियतम, रयेछे खोला ए घर मम
समुख दिये स्वपन सम
येयोना मोरे हेलाय ठेले!

हे एकमात्र मित्र, हे प्रियतम, मेरा घर खुला हुआ है। स्वप्न के समान सामने से मुझे यों ही ठुकराकर न चला जाना।

स्वप्न का कोई ठिकाना नहीं, कब आया और कब गया! किसी का अभिप्रेत कोई सुखस्वप्न स्वप्नद्रष्टा की कामना की, अपने आवागमन के लिये प्रतीक्षा नहीं करता। प्रार्थी के घर में आने की कोई अटक नहीं, घर द्वार खुला पड़ा है। उसका अतिथि एकमात्र उसका मित्र है, प्रियतम है उसकी उपेक्षा असह्य है। उसको खुले घर में आना ही चाहिये। फिर भी उसे अपने अतिथि का विश्वास नहीं। आये न आये; वह खेलवाड़ में ही देखते-देखते सामने से चला न जाय। प्रिय स्वप्न भी तो यों देखते-देखते दूर हो जाता है। स्वप्न का क्या विश्वास? यहाँ प्रियतम का और स्वप्न का गुण-क्रियागत साधर्म्य जितना ही चमत्कारक, जितना ही प्रभावोत्पादक है उतना ही उपमेय का रूप भी उपस्थित करनेवाला है।

यह रहस्यवादी कविता है। प्रार्थी प्रिया के रूप में प्रियतम परमात्मा की प्रीति के लिये लालायित है।

कवि को स्वप्न का उपमान बड़ा ही प्रिय है। उसने प्रियागमन के सम्बन्ध में कई स्थानों पर इसकी अवतरणा की है। उनमें एक यह है—

तुमि शुधु चले यावे सहास्य अधरे
निशान्तेर सुख स्वप्न सम।

इसमें भी उपेक्षा-भाव से सुख-स्वप्न की भाँति कच के चले जाने की बात देवयानी के द्वारा कही गयी है।

३ एक टि माधवी लता आपन छाया ते
दु'टि अधरेर राँगा किसलय पाते
हासिटि रेखेछे ढेके कुँड़िर मतन।

माधवी लता अपनी छाया में दो किसलयों के बीच उजली कलिका के दो लाल अधरों के बीच हँसी की भाँति रक्खे हुई है।

कवि-समय-ख्याति से हँसी का रूप उज्ज्वल है। नवपत्र को किसलय कहते हैं। प्रकृत्या वह लाल होता है। कली खिली नहीं है। हँसी भी होठों के भीतर ही है। कली की आभा पत्रों के बीच से बाहर हुई पड़ती है और मुँदे होठों के बीच में हँसी भी मँडराती है। दोनों ढके हुए हैं। दो लाल पत्रो के बीच की कली और दो लाल होठों के बीच की हँसी की तुलना—उपमानोपमेयभाव, जितना ही स्वाभाविक है उतना ही सुन्दर और जितना ही कोमल है उतना ही मधुर है।

४ सहस्र हारान सुख आछे ओ नयने
जन्म जन्मान्तेर येन वसन्तेर गीति।

उन आँखो में हजारों भूले हुए सुख ऐसे वर्तमान हैं, जैसे जन्म-जन्मान्तर के वासन्ती गीत हों।

सुखस्मृतियाँ बड़ी सुखदायक होती हैं। कवि की 'स्मृति' कविता की ये पंक्तियाँ पूर्वजन्मार्जित वासना का ही द्योतन करती हैं। तभी तो कवि जब आँखों को देखता है, हजारो भूले सुखों को उन आँखों में देख पाता है। वह उसके पहले की दो पंक्तियों में कहता है कि उसकी देह को देखकर मेरे मन में न जाने कितने सैकड़ों वर्षों के पूर्वजन्म की स्मृतियाँ जाग उठती हैं।

उइ देह पाने चेये पड़े मोर मने
येन कत शत पूर्व जन्मेर स्मृति।

वसन्त यों ही सुखदायक होता है। उस वसन्त में भी गीत के आनन्द का क्या कहना! उसकी कल्पना भी मीठी होती है। जिसने इसका अनुभव किया है उसका जन्म सार्थक है। वसन्त और उसके गीत एक ऐसा चित्र सामने ला देते हैं, जिसकी तुलना नहीं हो सकती। ये दोनों ही सुख, सौंदर्य और सौभाग्य के प्रतीक हैं। इनमें जन्म-जन्मान्तर की बात आने से इनकी अपारता और प्रत्यक्ष हो जाती है। यह उपमा प्रस्तुत

अनेक भूले सुखों के प्रभाव को विस्तृत कर देती है, आँखों में वे सुख झलक उठते हैं। वासना के अस्फुट रूप भी स्फुट हो जाते हैं।

५ पाश दिये छायाहीन दीर्घ पथ गेछे बेंके
रांगा पाड़ येन सबुज शाड़ीर प्रान्ते कुटिल रेखाय।

बगल से छाया-हीन टेढ़ी-मेढ़ी राह दूर तक चली गयी है। जैसे हरी साड़ी की टेढ़ी-मेढ़ी रेखावाली रंगीन किनारी हो।

झाड़-जंगल में बसी हुई सौंतालों की बस्ती के बगल से निकली हुई राह की यह उपमा है। घास-पात में बनी हुई पगडंडी दिन-रात की देखी हुई चीज है। हरी साड़ी की रंगदार किनारी भी कोई अपूर्व वस्तु नहीं है। फिर भी यहाँ अनायास प्रस्तुत की गयी यह अप्रस्तुतयोजना कितनी सुन्दर और कितनी सटीक है कि मुँह से वाह-वाह की ध्वनि अनायास निकल पड़ती है। कवि के शैशवकालीन अभिज्ञता के वर्णन में यह उपमा भी शैशवोचित ही प्रतीत होती है पर यह जैसे अर्थ की स्पष्टता करती है वैसे भाव की संगति भी बैठाती है। इस उपमा ने हरी भूमि की राह की शोभा निखार दी है। उसमें रंगीनी ला दी है। गुप्तजी वनमार्ग का यों वर्णन करते हैं—

वहाँ सरल संकुचित बनी वनवीथि है,
वनस्थली की माँग बनी वनवीथि है।

यहाँ माँग जैसी होने से उपमा है वाच्यार्थ से उत्प्रेक्षा है।

६ हृदय आमार नाचे रे आजिके
मयूरेर मत नाचे रे
हृदय नाचे रे।

शत वरणेर भाव उच्छ्वास
कलापेर मत करेछे विकास
आकुल पराण आकाशे चाहिया
उल्लासे कारे याचे रे।

आज मेरा हृदय मयूर के समान नाच रहा है। नृत्य-काल में मयूर के चित्र-विचित्र कलाप—मयूर-पुच्छ के समान मेरा शतरंगी भावोच्छ्वास विकसित ही नहीं हो जाता, बल्कि वह मेघमेदुर आकाश को ऐसे देखता है;

जैसे कुछ माँग रहा हो। वैसे ही कवि का आकुल-प्राण भी हर्ष से आकाश की ओर देखकर कुछ माँगता-सा प्रतीत होता है।

अप्रस्तुतयोजना के चमत्कार-प्रदर्शन, अर्थस्पष्टता, प्रभावविस्तार, भाव-संगति आदि अनेक कार्यों में भावसंगति की ही विशेष महत्ता समझी जाती है। यहाँ भावों का उच्छ्वास संयत है। यौवनसुलभ उल्लास भी अबाध नहीं। मयूर के नृत्य की भाँति ही हृदय का नृत्य उद्दाम नहीं। उसकी गति में गम्भीरता है। हृदय में अनेक प्रकार के भाव उठते हैं। उनकी रंगीनियों से हृदय भली भाँति परिचित है। उसकी कुछ कामना है, पर व्यक्त नहीं। वह आकाश की ओर, साधारण नहीं, बरसाती आकाश की ओर देखने से प्रबल हो उठती है। इसीसे प्राण आकुल हैं। फिर भी आनन्द के मिश्रण से उसमें उल्लास है। वह समझता है कि उसके याचने से मेरी आकांक्षा पूरी हो जायगी। क्या यह कालिदास के

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः।

की अवस्था तो नहीं है। तभी तो उधर हृदय नाचता है, और इधर प्राण आकुल होते हैं। यहाँ रूपकोपमा है। हम ऐसे स्थानों में रूपक-गर्भित उपमा कहने के पक्षपाती नहीं हैं।

कहीं-कहीं कालिदास के समान रवीन्द्रनाथ की उपमायें यथार्थ और संगत नहीं प्रतीत होतीं।

हाउआर मुखे छूटलो भाङा कुँड़ेर चाल,
शिकल छेड़ा कयेदी डाकातेर मतो।

हवा की ओर फूस की झोपड़ी के खर-पुआल इस प्रकार उड़ चले, जैसे टूटी बेड़ी वाला डकैत कैदी भाग चले।

जिधर की हवा होती है उधर खर-पुआल का उड़ना स्वाभाविक है पर डकैत कैदी का सा न तो वह भारी-भरकम होता है, और न बेड़ी के से बन्धन में ही वह रहता है। पुआल के उड़ने की गति में जो वेग है, वह कभी कैदी का गति-वेग नहीं हो सकता। जाति, द्रव्य, गुण का साधर्म्य नहीं, क्रिया का कुछ साधर्म्य है। यदि कैदी के भागने की उपमा खर-पुआल के उड़ने की उपमा दी जाती तो अर्थ की स्पष्टता के साथ उसकी प्रभावशालिता भी बढ़ जाती।

कवीन्द्र की उपमायें अनन्त हैं, उनका दिग्दर्शन कराना भी असम्भव है। नमूने के रूप में यह एक-दो की झाँकी भर है। जैसे कवीन्द्र की गद्य उपमाओं से वर्णनीय विषय की स्पष्टता होती है, उसका रूप सामने आ खड़ा हो जाता है वैसे ही उनके पद्यों की उपमाओं से भाव प्रभावोत्पादक बन जाते हैं, उनकी मूर्ति सामने आ खड़ी हो जाती है। भिन्न-भिन्न प्रकारों से उपमाओं का सुन्दर प्रयोग करके कवीन्द्र ने बंगला भाषा की बड़ी श्रीवृद्धि की है। उसका प्रसाद हिन्दी में भी मिल रहा है।

तेंतीसवाँ रंग—उर्दू के उपमान

उर्दू-साहित्य के अध्ययन से यह विदित होता है कि संस्कृत तथा हिन्दी-साहित्य की उपमा की भाँति उसमें उसको उतनी महत्ता नहीं दी गयी जितनी कि चमत्कारक उक्तियों को दी गयी है। उर्दू में बात की करामात ही अधिक देखी जाती है। वहाँ तो बस कहा जाता है कि—

मतलब में सफा हो य तकल्लुफ है जबां का
दिक्कत हुई मानी में तो, क्या लुत्फ जबां का।

भावों की प्रेषणीयता तथा उनकी तीव्रता पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। इसीसे उर्दू कविता में व्यञ्जकता पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। यह अवश्य है कि यत्र-तत्र इसका अभाव नहीं। पर वे सब अपवाद-स्वरूप हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उर्दू-साहित्य में उपमा का नितान्त अभाव है, भले ही उनमें मार्मिकता का अभाव हो। उपमा के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

पहलुये यार से उठने को उठे तो लेकिन
दर्द की तरह उठे गिर पड़े आँसू की तरह।

'पहलुये यार से' के स्थान पर 'बज्म उश्शाक से' (आशिकों की मजलिस से) भी पाठ है। इसमें उठने और गिरने की क्रिया का केवल सास्यमात्र है। साफ-सुथरी बात है। एक गजल में भी यही है—

आये थे इश्क बन के और अश्क बन चले वो
खुद ही हँसा रहे थे खुद ही रुला रहे हैं।

इसमें उठने-पड़ने की बात नहीं—आने-जाने की बात है। दर्द की जगह इश्क ने ले ली है। इश्क (प्रेम) और अश्क (आँसू) बनकर आना उपमान का ही एक रूप है। अर्थ होता है प्रेम जैसे आता (होता) है, वैसे ही वे आये थे। उपमा ही है।

महाकवि प्रसाद के काव्यों और नाटकों में संस्कृत ढंग की अपार उपमायें हैं। उनमें उर्दू ढंग के उपमान भी यत्र-तत्र आ गये हैं। उक्त प्रकार की ही यह एक उपमा है।

संज्ञा से आये तुम मादक से चले गये थे।

इसमें दर्द, इश्क, अश्क नहीं हैं। फिर भी मादक एक ऐसा शब्द है, जो उर्दू ढंग की अप्रस्तुतयोजना को सामने ला देता है।

हमने तुमको खूब देखा है मिसालें आईना।
पीठ पीछे कुछ हो तुम और रूबरू कुछ और हो।

इसमें आईना के उपमान ने व्यक्ति-विशेष के व्यवहार को खूब अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया है। मुँह देखी बात या प्रीति करनेवाले के लिये आईना के आगे पीछे की मिसाल ला-जवाब है।

हमने देखी है किसी शोख की मस्ती भरी आँख
मिलती जुलती है छलकते हुए पैमाने से।

मस्ती की मादकता भरी आँख वैसी ही है जैसे शराब के छलकते हुए प्याले हों। मस्ती और मदिरा का इसमें अच्छा गुण-साम्य है।

उर्दू में उपमा अलंकार लाने के निराले ढंग हैं जिनका अनूठापन पढ़नेवालों को आह्लाद के साथ चमत्कृत भी कर देता है।

नशये हुस्न को इस तरह उतरते देखा,
ऐब पर अपने कोई जैसे पशेमाँ हो जाय। जिगर-

सौन्दर्य के नशे को इस तरह उतरते देखा, जैसे कोई अपने दोष पर लज्जित हो जाय। गिरती अवस्था में रूपवती के रूप का ह्रास जो होता है वह सहसा वा अचानक वा एककालिक नहीं होता पर दोषोद्घाटन पर

लज्जित होना आकस्मिक और एककालिक होता है। इससे उपमेय और उपमान का संतुलन ठीक नहीं। अलंकार शास्त्र की दृष्टि से प्रतिवस्तूपमा अलंकार यहाँ कहा जा सकता है पर उर्दू का कोई इतना सूक्ष्म दृष्टिकोण नहीं है। इससे हम उपमा के भीतर ही इसे लेते हैं। कारण यह कि जैसा यहाँ उपमा का वाचक है, वही इसमें वैचित्र्य है।

आह कि तुझ बिन इस तरह ऐ दोस्त घबराता हूँ मैं,
जैसे हर शै में किसी शै की कमी पाता हूँ मैं। जिगर

तेरे बिना मैं ऐसा घबराता हूँ जैसे हर वस्तु में किसी वस्तु की कमी पाता हूँ। इसमें भी साधारण उपमा का ढंग नहीं। किसी के बिना घबड़ाना और प्रत्येक वस्तु में किसी वस्तु का कमी पाना साधारणतः एक-सी बात नहीं। पर न्यूनता का भाव ही इनमें साम्य उपस्थित करता है।

वो रंगे रुख था उठाई है जब निगाह उसने,
शराब जैसे छलकते छलकते रह जाय।

रंगे रुख—चेहरे का रंग वैसा था जैसे छलकती शराब न छलक पाये। भावार्थ यह कि वह रंगे रुख ऐसा था जिसमें शराब की मादकता थी और उसमें ऐसी तरलता थी, जो लुभावनी और मनमोहनी थी। इसमें भी उपमा का निराला ढंग है।

हँगामा क्या वपा है जो थोड़ी-सी पी ली है,
डाँका तो नहीं मारा. चोरी तो नहीं की।

थोड़ी-सी शराब पी लेना डाँका मारने जैसा बुरा काम नहीं है, चोरी करने जैसा बुरा काम नहीं है। यही इसका भावार्थ है। उपमा की अभिव्यक्ति अपूर्व है।

बुद्धू मियाँ भी हजरते गाँधी के साथ हैं,
गो गर्दे राह हैं, मगर आँधी के साथ हैं।

इसमें 'गर्दे राह' और 'आँधी' उपमान हैं पर ये उपमान अध्यवसान-मूलक हैं। इन्हें रूपकातिशयोक्ति के भीतर नहीं ले सकते हैं। रूपक का आभास है। इनका रूप लुप्तोपमा का है। गर्देराह—राह की धूल जैसे तुच्छ है वैसे बुद्धू मियाँ हैं, और आँधी जैसे शक्तिशालिनी होती है,

वैसे ही गांधी भी शक्तिशाली हैं। यही वहाँ उपमा का रूप है, पर कहने का ढंग निराला है।

ऐ चश्मेतर, न अश्क वहा उनके सामने,
मोती मिला के खाक में वे आवरू न हो।

मतलब यह कि अश्क—आँसू वैसे ही हैं जैसे कि मोती। रोना व्यर्थ है। उपमा का ढंग निराला है।

चौंतीसवाँ रंग—उर्दू उपमान के कुछ विचार

हिन्दी-उर्दू-साहित्य की भाषा प्रायः एक-सी है। कहीं-कहीं तो उर्दू के शेर—पद्य ऐसे ज्ञात होते हैं जैसे हिन्दी के ही हों। उर्दू के कुछ कवि तो इतना सहल लिखने लगे हैं कि उर्दू तर्ज के हिन्दी के ही कवि बन गये हैं इसके लिये वे एक तरह से बदनाम हैं और 'उर्दू को भाषा कर दिया' के उपाधिधारी हो गये हैं।

न कुछ हम हँस के सीखे हैं न कुछ हम रोके सीखे हैं।
जो कुछ थोड़ा-सा सीखे हैं, तुम्हारे हो के सीखे हैं।

मुगल सम्राट् बहादुरशाह 'जफर' के इस शेर को हम हिन्दी का पद्य कहने का दावा कर सकते हैं? सब कुछ होने पर भी कहने के ढंग में विभिन्नता है।

हो चश्मे मस्त फिर उसपर वह पंजये मिजगाँ,
हो जैसे हाथ किसी नाजनी का सागर पर।

मस्त आँखें और उसपर पलकों का पंजा अर्थात् पलकें ऐसी हैं जैसे शराब पर किसी सुन्दरी के हाथ हों। इसमें मस्त आँखों को शराब की मिसाल उर्दू को शोभा देती है। हमारे यहाँ 'अमी हलाहल मद भरे' नेत्र हैं। उनमें मादकता है, पर वह शराब की नहीं है। उसमें वह गुण स्वाभाविक है। शराब से उसकी तुलना हमारे लिये सम्भव नहीं है।

मेहरवाँ हो के बुला लो मुझे चाहो जिस वक्त,
मैं गया वक्त नहीं हूँ कि फिर आ भी न सकूँ।

एक शेर का टुकड़ा है 'गया वक्त फिर हाथ आता नहीं।' इसीके विपरीत रूप से यहाँ कहा गया है कि मैं गया वक्त नहीं हूँ कि फिरकर न लौट आऊँ।

मेहरबानी से जिस वक्त चाहो बुला लो। मैं बार-बार आने के लिये तैयार हूँ। यदि 'गया वक्त' जैसा फिर मैं न आनेवाला रहता तो इसका सीधा रूप होता। उपमान का यह तरीका भी बुरा नहीं है।

कुछ उनसे कहने को बैठे थे हम तो खिलवत में,
रकीब आ ही गया मर्गे नागहाँ की तरह।

एकान्त में उनसे कुछ कहने को बैठे थे कि आकस्मिक मृत्यु की तरह प्रेम-प्रतिद्वन्द्वी आ गया। इसमें मूर्त प्रतिद्वन्द्वी के लिये अमूर्त मृत्यु उपमान लाया गया है। प्रेम-प्रतिद्वन्द्वी का आना उतना ही दुखदायक हुआ जितना कि मृत्यु का आना दुखदायी होता है। कवि की दृष्टि यहीं तक गयी। किन्तु कहनेवाले की यदि मृत्यु ही हो जाय तो प्रतिद्वन्द्वी के आने के दुख- का अनुभव ही कौन करेगा, यहाँ तक दृष्टि नहीं गयी। ऐसे उपमान तह तक पहुँच कर लाये हुए नहीं समझे जाते।

फलसफी को बहस के अन्दर खुदा मिलता नहीं।
डोर को सुलझा रहा है और सिरा मिलता नहीं।

दार्शनिक को दर्शनशास्त्र के शास्त्रार्थ से ब्रह्म-ज्ञान सम्भव नहीं, जैसे उलझी हुई रस्सी को सुलझाना चाहे और उसे छोर न मिले।

इसकी अप्रस्तुतयोजना प्रस्तुत की महत्ता को कम कर देती है। कहाँ वेदान्तियों का ब्रह्मज्ञान विषयक गहन विचार और कहाँ उलझी हुई रस्सी, कहाँ उसका छोर और कहाँ ब्रह्म-ईश्वर। केवल दोनों की जटिलता—उलझन की बात को लेकर ही यह योजना है। यहाँ अमूर्त के लिये मूर्त उपमान है, पर अयथार्थ है। रस्सी की उलझन सुलझ जा सकती है और उसका सिरा भी मिल जा सकता है पर दार्शनिक शास्त्रार्थ का अन्त सम्भव नहीं है। परमात्म-प्राप्ति क्या वैसा ही सहज है?

रात शैताँ को ख्वाब में देखा,
सारी सूरत जनाब की-सी थी।

यहाँ की अप्रस्तुतयोजना ऐसी है जो प्रस्तुत को समता में ऊँचा उठा देती है। हमारे यहाँ प्रतीप अलंकार से इसकी समकक्षता की जा सकती है। जनाब की सूरत को शैतान की सूरत बताने से उसकी विकरालता बढ़ जाती है।

हिन्दी के समान उर्दू में भी सी, से, सा आदि उपमा के वाचक हैं जैसे

कि-ऊपर के शेरों में। कहीं-कहीं सौ का बहुत अच्छी या बहुत बुरी वस्तु सूचित करने के लिये भी उर्दू में प्रयोग होता है।

उम्र-सो उम्र हो गयी बर्बाद,
दिले नादाँ अबस उदास नहीं।

यहाँ 'सौ' उम्र की अधिक अच्छाई को ही व्यक्त करती है।

कुछ अन्य अप्रस्तुतयोजनायें दी जाती हैं।

न क्यों तेरे दाँतों से झूठा हो मोती
कि दावा किया था सफाई का झूठा।

इसका रूप ललितोपमा का है।

सुर्खरू होता है इन्सां आफतें आने के बाद,
रंग लाती है हिना पत्थर से घिस जाने के बाद।

इसमें दृष्टान्त है। क्योंकि बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

बढ़े जाते हैं दुख यह उम्र ज्यों-ज्यों कटती जाती है।
मगर मैं सोचकर खुश हूँ कि बेड़ी कटती जाती है।

विरोधाभास है। क्योंकि यथार्थतः कटने-बढ़ने का विरोध नहीं है।

तुम्हारा हुस्न हुस्ने-माह-अनवर से दोबाला है।
यह कोई हुस्न में है हुस्न जो बढ़ता हो घटता हो।

तुम्हारा सौन्दर्य प्रकाशमान चन्द्र की सुन्दरता से दुगुना है। क्योंकि चाँद की सुन्दरता घटने-बढ़नेवाली है। उसे सुन्दरता कहना ही ठीक नहीं। इसमें व्यतिरेक अलंकार है।

शुद्धि-पत्र

पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	द्रत	द्रुत
७	उपयुक्त	उपर्युक्त
१२	आनवाले	आनेवाले
१६	विसल	विमल
४	समझनेवाले	समझनेवाला
८	किरणों की	किरणों की वे
२१	त्वामियमंङ्गलि	त्वामियमङ्गुलि
३०	socend yeen	sound seem
२४	भाव के	भाव को
६	जोर	जो
१५	सिढ़ि	सिड़ी
२४	है अलंकार	अलंकार
२४	जैसी	जैसा
५	बना	बना है
२३	के दो	की दो
२१	स्पर्स	स्पर्श
३०	विरोद	विरह
१२	ये	थे
६	वर्षा के	वर्षा को
१६	परवश	वशीभूत
१३	विलासनभिशैः	विलासानभिशैः
२५	मस्या	मस्याः
२६	ऐसा	ऐसे
२	करता	करती
६	अकुंरित	अंकुरित
१५	ममन्तुद	मर्मन्तुद
२१	भरा	मेरा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३५	२१	ध्यान नहीं	नहीं
१३७	१५	गयी	गया
१४३	३	सव	सर्व
१४६	६	वह	उसे
१५१	८	अप्रस्तुत	प्रस्तुत
१५३	२०	सूरत	कौड़ी सी सूरत
१५३	१०	इमन	ईमन
१५८	२७	दिसिवाला	दीसिवाला
१६४	१६	देह	शरीर
१६६	११	उससे इच्चा	उसमें इच्छा
१७७	१४	बास	बात
१९१	१०	मुमुर्षु	मुमुषु
१९६	११	जाता	जाना
१९९	२	इत्र	इत्र
२०२	१८	की	का
२०२	२८	सम्पति	सम्पत्ति
२०४	१९	स्खवलित	स्खलित
२०६	१	पत्वे	पत्य
२०७	१४	पहियों के और	पहियों की ओर
२१४	२१-२२	च	व
२१६	६	के	का
२२०	३१	दो	दी
२३१	१०	का	की
२३१	१२	हैं	भी
२३२	२२	शराब पर	शराब से भरे प्याले पर
२३२	२८	इसीके	इसीको